ॐ

नमः सिद्धेभ्य

आत्मयोग

श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक 569, 491 एवं 609 पर पूज्य भाईश्री शशीभाई के प्रवचन

प्रकाशक :

वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

भावनगर

प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान :

- **वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट**
  ५८०, जूनी माणेकवाड़ी,
  भावनगर-३६४००१
  फोन : (०२७८) २४२३२०७ / २५१५००५
- **गुरु गौरव**
  श्री कुन्दकुन्दकहान जैन साहित्य केन्द्र,
  पूज्य सोगानीजी मार्ग, सोनगढ़
- **श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द कहान जैन ट्रस्ट**
  विमलांचल, हरिनगर, अलीगढ़
  फोन : (०५७१) ४१००१०/११/१२
- **श्री खीमजीभाई गंगर** (मुंबई) : (०२२) २६१६१५९१
  श्री डोलरभाई हेमाणी (कोलकाटा) : (०३३) २४७५२६९७
  अमी अग्रवाल (अहमदाबाद) : (०७९) R-२५४५०४९२, ९३७७१४८९६३

प्रथमावृत्ति : प्रत : १५००, द्वितीयावृत्ति : प्रत : ५००,
तृतीयावृत्ति : प्रत : ५००, चतुर्थावृत्ति : प्रत : १०००,
पांचवी आवृत्ति : ५००
पृष्ठ संख्या : ८ + २२४ = २३२
लागत मूल्य : ३५/-
विक्री मूल्य : २०/-

टाईप सेटिंग :
पूजा इम्प्रेशन्स
प्लोट नं. १९२४-बी,
६, शांतिनाथ बंगलोझ,
शशीप्रभु मार्ग, रूपाणी सर्कल,
भावनगर-३६४००१
फोन : (०२७८) २२०३४७०

मुद्रक :
भगवती ऑफसेट
१५/सी, बंसीधर मिल कंपाउन्ड
बारडोलपूरा,
अहमदाबाद
फोन : ९८२५३२६२०२

प्रकाशकीय निवेदन
(पांचवी आवृत्ति)

यह ``**आत्मयोग**'' नामका लघुकाय ग्रंथ - परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजीके पत्रांक ५६९, ४९१ एवं ६०९ पर आत्मज्ञ सत्पुरुष पूज्य `भाईश्री' शशीभाई द्वारा अनुक्रमसे राजकोट, भावनगर और मुंबई (पार्ला)में हुए अति भाववाही प्रवचनोंका संकलन है। कृपालुदेवके हृदयमें सत्संग और सत्पुरुषकी महिमा कितनी थी !! उसके दर्शन उनके वचनामृतों में अनेक जगह पर होते हैं, जो कि उनके पूर्वके अनेक भवोंमें आत्म-कल्याणार्थ किये गये प्रयत्नोंके अनुभवका निचोड़ है।

हमारे परम तारणहार परम पूज्य गुरुदेवश्री `कानजीस्वामी'ने भी ४५-४५ साल तक प्रवचन करके, सत्संगके माध्यमसे ही अमृतवर्षा की है। तथा पूज्य बहिनश्री `चंपाबहन' १५ सालकी छोटी उम्रमें `करांची' छोड़कर स्वदेश लौट आयी इसके पीछे भी सत्संगकी ही प्रबल भावना थी और पूज्य गुरुदेवश्रीकी सोनगढ़में स्थिरता होनेके बाद उन्होंने भी पूज्य गुरुदेवश्रीके सत्संगरूपी ``**प्रत्यक्ष योग**'' में कायमी निवास कर लिया। इस प्रकार `ज्ञानीपुरुषका प्रत्यक्ष योग'-`**आत्मयोग**' यह सर्व ज्ञानियोंके हृदयमें रहा निर्वाणके हेतु मान्य करने योग्य, ऐसा परम रहस्य है। इस `प्रत्यक्षयोग'के महत्वको परम पूज्य `**भाईश्री**'ने अनन्त करुणा करके समझाया, जो कि इस ग्रंथका मुख्य विषय है।

`**आत्मयोग**'के संकलन कार्यमें जिन-जिन मुमुक्षुओंने सहयोग दिया है, हम उनके आभारी हैं। इसके अलावा इस ग्रंथके सुंदर टाईप सेटिंग कार्यके लिए पूजा इम्प्रेशन्स, भावनगर और सुंदर मुद्रण कार्यके लिए भगवती ऑफ़सेट, अहमदाबादके भी हम आभारी हैं।

``प्रत्यक्ष सद्गुरु सम नहीं, परोक्ष जिन उपकार,
एवो लक्ष थया विना, उगे न आत्मविचार''

(**आत्मसिद्धिशास्त्र - गाथा ११**)

अंतमें उक्त गाथाका स्मरण करते हुए ``सत्पुरुषका योगबल जगतका कल्याण करो'' ऐसी भावना सहित इस पुस्तकको संप्रति मुमुक्षु समाजके समक्ष प्रेषित करते हैं।

भावनगर
दि-३१-१२-२००७
(कुंदकुंदाचार्यदेव का आचार्य पदवी दिन)

ट्रस्टीगण
वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
भावनगर

अनुक्रम णिका

प्रवचन-०१	श्रीमद् राजचंद्र-पत्रांक-५६९	.००१
प्रवचन-०२	श्रीमद् राजचंद्र-पत्रांक-५६९	.०२६
प्रवचन-०३	श्रीमद् राजचंद्र-पत्रांक-५६९	.०४४
प्रवचन-०४	श्रीमद् राजचंद्र-पत्रांक-५६९	.०६३
प्रवचन-०५	श्रीमद् राजचंद्र-पत्रांक-५६९	.०८०
प्रवचन-०६	श्रीमद् राजचंद्र-पत्रांक-४९१	.१००
प्रवचन-०७	श्रीमद् राजचंद्र-पत्रांक-६०९	.१३०
प्रवचन-०८	श्रीमद् राजचंद्र-पत्रांक-६०९	.१५५
प्रवचन-०९	श्रीमद् राजचंद्र-पत्रांक-६०९	.१७५
प्रवचन-१०	श्रीमद् राजचंद्र-पत्रांक-६०९	.१९५

ममत्व करते वक्त और उसके फलमें आनेवाले उदयमें - दोनोंमें जीव दु:खी होता है, तो फिर किस अपेक्षासे ममत्व करने जैसा है ? ऐसा प्रश्न ज्ञानियोंको होता है।

दूसरेके दोष देखना और खुदके गुणको प्रसिद्ध करना वह दोषदृष्टि है, और दूसरेके गुण देखना और अपने दोष प्रगट करना वह गुणदृष्टि है।

(-पूज्य भाईश्री)

परम सत्संगमें अनुपम व अलभ्य ऐसा अपूर्व आत्मकल्याणकारी उपदेश स्पष्टरूपसे प्राप्त होने पर भी यदि जीव आज्ञांकित भावसे उस सत्संगकी उपासना नहीं करता है तो उसका पारमार्थिक लाभ जीवको प्राप्त नहीं होता। इसलिए यह सिद्ध होता है कि आज्ञाकारिता - वह ज्ञानकी निर्मलताका कारण है। संपूर्ण आज्ञाकारिता जिसे आती है, उसे परम सत्संग योगका सही मूल्यांकन हुआ है अथवा निज हितकी सही सूझ आयी है, जिसके फलस्वरूप जीवको अवश्य ज्ञान प्राप्ति होती है और वह संसार तिर जाता है। संपूर्ण आज्ञाकारितासे सर्वार्पणबुद्धि आती है। जिसके कारण फिर मोहको रहनेका कोई ठिकाना - आधार नहीं रहता। वह जीव आज्ञामें ही एकतान रहता है।

-पूज्य भाईश्री (अनुभव संजीवनी-१८३२)

`सत्संगकी उपासना नित्य कर्त्तव्य है' - ऐसी जो सत्पुरुषकी सीख, जीवको अत्यंत हितकारी एवं गिरती वृत्तिको स्थिर रखनेवाली है । वर्तमान दुषमकालमें असत्प्रसंगका घिराव विशेष है । जीव सहज मात्रमें कुसंगकी असरमें आ जाता है कि जिसके कारण दीर्घकाल पर्यंत सेवन किया हुआ सत्संग निष्फलताको प्राप्त होनेमें देर नहीं लगती। आराधनाके लिये तो अपूर्व पुरुषार्थ चाहिये । उसकी निरंतर लगन ही आवश्यक है। (२०५)

मुमुक्षुजीवके लिये `सत्संग' वह अमृत है; जिससे मुमुक्षुकी आत्मरुचि अथवा गुणरुचिको पोषण मिलता है। वर्तमान कालमें असत्संग प्रसंगका घिराव बहुत है, ऐसी परिस्थितिमें अचिंत्य जिसका महत्व है, ऐसे सत्संगका मूल्य किसी भी तरह नहीं हो सके - ऐसा है। प्रतिपक्षमें कुसंग मुमुक्षुके लिये ज़हर है। अगर इससे बचनेमें नहीं आये तो सद्विचारबलका नाश होकर अनेक दोषोंकी परंपरा खड़ी हो जाये। विपरीत रुचिको प्रसिद्ध करनेवाला, कुसंग करनेका भाव कृत-कारित अनुमोदनासे नहीं हो जाये उसकी अत्यंत सावधानी रखनी चाहिये - इस दृष्टिसे किसीका भी संग विचार करके करना चाहिये। इस विषयमें अगंभीरतासे, अविचारीपनेसे प्रवृत्ति बिलकुल होनी नहीं चाहिये। (३०४)

- पूज्य भाईश्री (अनुभव संजीवनी)

`मैं ज्ञानमात्र हूँ'

सुखधाम अनंत सुसंत चही,
दिनरात रहे तद्ध्यान महीं;
प्रशांति अनंत सुधामय जे,
प्रणमुं पद ते वरते जयते.

पावन मधुर अद्भुत अहो ! गुरुवदनथी अमृत झर्यां,
श्रवणो मळ्यां सद्भाग्यथी नित्ये अहो ! चिद्रस भर्यां.
गुरुदेव तारणहारथी आत्मार्थी भवसागर तर्यां,
गुणमूर्तिना गुणगणतणां स्मरणो हृदयमां रमी रह्यां.

हुं एक, शुद्ध, सदा अरूपी, ज्ञानदर्शनमय खरे;
कंई अन्य ते मारुं जरी, परमाणुमात्र नथी अरे.

सहजात्मस्वरूप सर्वज्ञदेव परमगुरु

श्रीमद् राजचंद्र

पत्रांक - ५६९

बंबई, फागुन वदी ३, १९५१

श्री सत्पुरुषोंको नमस्कार

सर्व क्लेशसे और सर्व दु:खसे मुक्त होनेका उपाय एक आत्मज्ञान है। विचारके बिना आत्मज्ञान नहीं होता, और असत्संग तथा असत्प्रसंगसे जीवका विचारबल प्रवृत्त नहीं होता, इसमें किंचित् मात्र संशय नहीं है।

आरंभ-परिग्रहकी अल्पता करनेसे असत्प्रसंगका बल घटता है, सत्संगके आश्रयसे असत्संगका बल घटता है। असत्संगका बल घटनेसे आत्मविचार होनेका अवकाश प्राप्त होता है। आत्मविचार होनेसे आत्मज्ञान होता है, और आत्मज्ञानसे निजस्वभावस्वरूप, सर्व क्लेश एवं सर्व दु:खसे रहित मोक्ष प्राप्त होता है, यह बात सर्वथा सत्य है।

जो जीव मोहनिद्रामें सोये हुए हैं वे अमुनि हैं। निरन्तर आत्मविचारपूर्वक मुनि तो जाग्रत रहते हैं। प्रमादीको सर्वथा भय है, अप्रमादीको किसी तरहसे भय नहीं है, ऐसा श्री जिनेंद्रने कहा है।

सर्व पदार्थके स्वरूपको जाननेका हेतु मात्र एक आत्मज्ञान करना ही है। यदि आत्मज्ञान न हो तो सर्व पदार्थोंके ज्ञानकी निष्फलता है।

जितना आत्मज्ञान होता है उतनी आत्मसमाधि प्रगट होती है।

किसी भी तथारूप योगको प्राप्त करके जीवको एक क्षण भी अंतर्भेदजागृति हो जाये तो उससे मोक्ष विशेष दूर नहीं है।

अन्य परिणाममें जितनी तादात्म्यवृत्ति है, उतना जीवसे मोक्ष दूर है।

यदि कोई आत्मयोग बने तो इस मनुष्य भवका मूल्य किसी तरहसे नहीं हो सकता। प्राय: मनुष्यदेहके बिना आत्मयोग नहीं बनता ऐसा जानकर, अत्यन्त निश्चय करके इसी देहमें आत्मयोग उत्पन्न करना योग्य है।

विचारकी निर्मलतासे यदि यह जीव अन्यपरिचयसे पीछे हटे तो सहजमें अभी ही उसे आत्मयोग प्रगट हो जाये। असत्संग-प्रसंगका घिराव विशेष है, और यह जीव उससे अनादिकालका हीनसत्त्व हुआ होनेसे उससे अवकाश प्राप्त करनेके लिये अथवा उसकी निवृत्ति करनेके लिये यथासंभव सत्संगका आश्रय करे तो किसी तरह पुरुषार्थयोग्य होकर विचारदशाको प्राप्त करे।

जिस प्रकारसे इस संसारकी अनित्यता, असारता अत्यंतरूपसे भासित हो उस प्रकारसे आत्मविचार उत्पन्न होता

है।

अब इस उपाधिकार्यसे छूटनेकी विशेष-विशेष आर्त्ति हुआ करती है, और छूटे बिना जो कुछ भी काल बीतता है, वह इस जीवकी शिथिलता ही है, ऐसा लगता है; अथवा ऐसा निश्चय रहता है।

जनकादि उपाधिमें रहते हुए भी आत्मस्वभावमें रहते थे, ऐसे आलंबनके प्रति कभी भी बुद्धि नहीं जाती। श्री जिनेंद्र जैसे जन्मत्यागी भी छोड़कर चल निकले, ऐसे भयके हेतुरूप उपाधियोगकी निवृत्ति यह पामर जीव करते-करते काल व्यतीत करेगा तो अश्रेय होगा, ऐसा भय जीवके उपयोगमें रहता है, क्योंकि यही कर्तव्य है।

जो रागद्वेषादि परिणाम अज्ञानके बिना सम्भवित नहीं है, उन रागद्वेषादि परिणामोंके होते हुए भी, सर्वथा जीवन्मुक्तता मानकर जीवन्मुक्तदशाकी जीव आसातना करता है, ऐसे प्रवृत्ति करता है। सर्वथा रागद्वेषपरिणामकी परिक्षीणता ही कर्तव्य है।

जहाँ अत्यन्त ज्ञान हो वहाँ अत्यन्त त्यागका सम्भव है। अत्यन्त त्याग प्रगट हुए बिना अत्यन्त ज्ञान नहीं होता, ऐसा श्री तीर्थंकरने स्वीकार किया है।

आत्मपरिणामसे जितना अन्य पदार्थका तादात्म्य-अध्यास निवृत्त होना, उसे श्री जिनेंद्र त्याग कहते हैं।

वह तादात्म्य अध्यास-निवृत्तिरूप त्याग होनेके लिये यह बाह्य प्रसंगका त्याग भी उपकारी है, कार्यकारी है। बाह्य प्रसंगके त्यागके लिये अंतरत्याग कहा नहीं है, ऐसा है; तो भी इस

जीवको अंतर्त्यागके लिये बाह्य प्रसंगकी निवृत्तिको कुछ भी उपकारी मानना योग्य है।

नित्य छूटनेका विचार करते हैं और जैसे वह कार्य तुरत पूरा हो वैसे जाप जपते हैं। यद्यपि ऐसा लगता है कि वह विचार और जाप अभी तक तथारूप नहीं है, शिथिल है; अत: अत्यन्त विचार और उस जापका उग्रतासे आराधन करनेका अल्पकालमें योग करना योग्य है, ऐसा रहा करता है।

प्रसंगसे कुछ परस्परके सम्बन्ध जैसे वचन इस पत्रमें लिखे हैं, वे विचारमें स्फुरित हो आनेसे स्व-विचार बल बढ़नेके लिये और आपके पढ़ने-विचारनेके लिये लिखे हैं।

जीव, प्रदेश, पर्याय तथा संख्यात, असंख्यात, अनंत आदिके विषयमें तथा रसकी व्यापकताके विषयमें क्रमपूर्वक समझना योग्य होगा।

आपका यहाँ आनेका विचार है, तथा श्री डुंगरका आना सम्भव है, यह लिखा सो जाना है। सत्संगयोगकी इच्छा रहा करती है।

श्रीमद् राजचंद्र
पत्रांक ५६९

प्रवचन नं. १
दि. २-१२-१९९४

श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत - पत्रांक ५६९, ``**श्री सत्पुरुषोंको नमस्कार**'' ``**सर्व क्लेशसे और सर्व दु:खसे मुक्त होनेका उपाय एक आत्मज्ञान है।**'' तीनों कालमें दु:खसे मुक्त होनेका यह अफर सिद्धांत है। (यह) सिद्धांत अध्यात्मका सिद्धांत है। जिनागमोंमें सिद्धांत अनेक प्रकारके हैं। चारों अनुयोगोंमें इसके अनुरूप सिद्धांत हैं। करणानुयोगमें कर्मके सिद्धांत हैं। चरणानुयोगमें आचरणके सिद्धांत हैं। द्रव्यानुयोगमें वस्तुके स्वरूप सम्बन्धित विज्ञानके सिद्धांत हैं। और इन सभी अनुयोगोंमें अध्यात्मके सिद्धांतोंको समाविष्ट कर लिया है। क्योंकि चारों अनुयोगोंका तात्पर्य राग-द्वेष मिटाकर वीतरागता संप्राप्त करनेका है। अत: अध्यात्मका विषय चारों अनुयोगोंमें है। यह एक अध्यात्मका बहुत ही महत्वपूर्ण सिद्धांत है कि ``**सर्व क्लेशसे और सर्व दु:खसे मुक्त होनेका उपाय एक आत्मज्ञान है।**''

क्लेश व दु:खके असंख्य प्रकार हैं। चारों गतिके दु:ख हैं। चारों गति संसारमें दु:खमय हैं। जन्म-मरणके दु:ख तो प्रसिद्ध हैं। इसके उपरांत रोगके, बाधाके, अकस्मातकी पीड़ाके और सबसे अधिक

मानसिक तनाव (Tension) के अनेक प्रकारके दु:ख संसारी जीवोंको हैं। दु:ख एक रोग है। जीवकी अवस्थामें भावरोग है। रोगके प्रकार अनन्त हैं, फिर भी उसको मिटानेका उपाय एक ही है। यह एक सगवड़ व सुविधा है। भले ही दु:ख अनंत प्रकारके हो किन्तु उन्हें मिटानेका व सुखी होनेका एक ही उपाय है। एक ही उसकी Master key (चाबी) है। यह एक सुखी होनेका सुविधापूर्ण उपाय है। अत: अनंत प्रकारकी माथापच्चीमें जानेका प्रकार या अवसर खड़ा नहीं होता है।

यह एक अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्धांत है कि जीवको अगर एक आत्मज्ञान हो, तो उसे किसी भी प्रकारका दु:ख नहीं होता। वह जीव (आत्मज्ञानी) किसी भी प्रकारके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके बीच हो तो भी सुखी ही होता है। चाहे नरकमें हो तो भी सुखी होता है। सबसे अधिक दु:ख नरकगतिमें है। (ज्ञानी) सातवें नरकमें भी सुखी होता है। `**बाहिर नारक कृत दु:ख भोगे, अंतर सुखरस गटागटी**' एक ज्ञानीकविने यह पद लिखा है। ऐसे ज्ञानी अन्दरमें सुखका वेदन करते हैं। नरकगतिमें ज्ञानी बनते भी हैं; (वहाँ) आत्मज्ञानी जाते भी हैं व नये आत्मज्ञानी बनते भी हैं। सातवें नरकमें भी नये आत्मज्ञानी उत्पन्न होते हैं और ज्ञानी अगर जाते हैं तो भी पहले, दूसरे या तीसरे नरकसे ज़्यादा नीचे नहीं जाते। किन्तु अगर एक आत्मज्ञान हो यानी कि अपने मूल शुद्ध सहजात्मस्वरूपका अनुभवज्ञान हो तो स्वरूपमें भरा हुआ जो अनन्त सुख, उस सुखके प्रवाहका परिणतिके द्वारा ज्ञानी जीव वेदन करते हैं, अनुभव करते हैं इसलिये वे सुखी हैं। बाहरके दु:ख उन्हें स्पर्श नहीं करते। जिसे बाहरके दु:ख गिननेमें आते हैं उन दु:खोंसे वे भिन्न रह सकते हैं। अनुभवमें भिन्न रह सकते हैं। भिन्न ज्ञानमय व सुखमय अनुभवमें वे रह सकते

हैं। ऐसे सम्यक् पुरुषार्थमें परिणमन करनेवाले ज्ञानी हमेशा सुखी हैं। तीनों काल सुखी होते हैं।

अत: यहाँ पर सर्व प्रथम एक महान सिद्धांतका निरूपण किया है। इस पत्रके आशयको कृपालुदेवने आगे पृष्ठ - ४५९ में नीचेसे पाँचवी पंक्तिमें स्पष्ट किया है और लिखा है कि ``**विचारमें स्फुरित हो आनेसे स्व-विचार बल बढ़नेके लिये और आपके पढ़ने-विचारने के लिये** (**लिखे हैं**)।'' यहाँ पर कुछएक वचन इस पत्रमें लिखे हैं। इस पत्रमें जो वचन लिखे हैं (यह सिर्फ़) वचन नहीं है (बल्कि) वचनामृत हैं - अमृत वचन हैं !! क्योंकि जिस अमृतको पीनेसे अजर-अमर हो सकते हैं ऐसी एक औषधी इसमें रही है। भवरोगको नाश करनेकी (औषधी है)। हेतु लिखा है कि विचारमें स्फुरित हो आनेसे स्व-विचार बल बढ़नेके लिये (अर्थात्) मेरे विचारबल व ज्ञानबलकी वृद्धि हेतु, व आपको पढ़ने-विचारनेके हेतु लिखता हूँ। स्व-पर दोनों हेतु लिखा है। इस पत्रमें जो वचन लिखे हैं, यानी आखरी बात हमलोग इसलिये पहले विचार लेते हैं कि जिससे इस पत्रमें लिखे हुए वचनोंका महत्त्व कितना है ? कि खुद अपने विचारबलके बढ़नेके लिये भी ये वचन विचारमें स्फुरित हुए हैं।

``**सर्व क्लेशसे और सर्व दु:खसे मुक्त होनेका उपाय एक आत्मज्ञान है।**'' अब यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि अगर सर्व क्लेशसे व सर्व दु:खसे मुक्त होनेका उपाय एक आत्मज्ञान है, तो वैसा आत्मज्ञान कैसे हो ? ऐसी जिज्ञासाके समाधानरूपमें इस पत्रमें नीचेके वचनामृत हैं। अत: वैसा दृष्टिकोण साध्य करके इसका स्वाध्याय करना चाहिए।

इसके पहले थोड़ा विशेष विचार करें कि इस जगतमें बुद्धिमान मनुष्य होते हैं। जैन, जैनेतर सभी समाजमें बुद्धिवाले - बुद्धिमान

मनुष्य होते हैं, फिर भी संसारमें संसारके दुःखको मिटानेकी समस्या उन बुद्धिमानोंके सामने अभी भी खड़ी है। फिरसे (दोहराता हूँ) कि विश्वमें रहे बुद्धिजीविओं, बुद्धिजीवी मनुष्योंमें, अगर अपर लेवलमें (उपरके दरजेमें) देखें जो कि बहुत बुद्धिशाली मनुष्य गिने जाते हैं; देश-विदेशमें सभी जगह होते हैं, उसमें भी एक समस्या पूरी मानवजातिके सामने खड़ी है, दिखता है कि अनेक प्रकारके सुखके साधनसे संपन्न होने पर भी सुख मिलता नहीं है व दुःख मिटता नहीं है। बुद्धिशाली जीवोंके लिये (भी) यह एक बहुत बड़ी समस्या है और जिसका समाधान मिलता नहीं है। यह एक मानवजातिके लिये बहुत बड़ी समस्या है।

हमलोग इतने भाग्यशाली हैं कि जिन्होंने किसी भी हालतमें अन्दरमें सुखानुभव किया, आत्मसुखका अनुभव किया है, ऐसे महात्मापुरुषोंने हमें उसका विज्ञान बतलाया है। उसका वैज्ञानिक उपाय बतलाया है। जिसे हम आम तौरसे जैनधर्म कहते हैं, वह वास्तवमें सुखी होनेका एक वैज्ञानिक उपाय है। और वह उपाय हमारे पास उपलब्ध है। कृपालुदेव २१ नंबरके वचनामृत (३०) में लिखते हैं कि ``**गुप्त चमत्कार ही सृष्टिके ध्यानमें नहीं है**'' इसका मतलब क्या ? कि किसी भी हालतमें सुखी रहना, सुखी होना यह एक बहुत बड़ी चमत्कारिक बात है। चाहे कैसे भी प्रतिकूल व दुःखके प्रसंगमें भी जीव दुःखी नहीं हो बल्कि सुखी हो, यह कोई सामान्य चमत्कार है क्या ? दृष्टांत लेते हैं कि मानो किसी मनुष्यको अशाताका तीव्र दुःख होता है। दूसरे दुःखोंसे अधिक यह एक ऐसा प्रसंग है कि जिस प्रसंगमें अशाताकी पीड़ासे उपयोग को छुड़ा नहीं सकते हैं। छुड़ाना चाहे तो भी उपयोग वहाँसे खिसकता नहीं है। पीड़ामें और पीड़ामें ही लगा रहता है। और उस पीड़ामें सभी

साधन Fail (बेकार) जाते हैं। वहाँ रुपयोंके नोटोंकी गड्डी काममें नहीं आती। उसमें जर-जवाहरात, सोना, गहने आदि कुछ काममें नहीं आते। उस वक्त कुटुम्ब-परिवार कोई काममें नहीं आते। सब टकटकी लगाये हुए देखते रहें किन्तु पीड़ामें कोई भाग नहीं ले सकता है। और डॉक्टरोंकी दवा(भी) Fail (बेकार) जाती है। पेइन किलर (दु:खावेमें राहत देनेवाली दवा) भी Fail हो जाती है। ऐसे दु:खके प्रसंगमें भी जिन्होंने सुखका अनुभव किया, सिर्फ़ सुखानुभव किया इतना ही नहीं बल्कि उस वक्त विशेषरूपसे सुखानुभव किया; आत्माका अधिक कल्याण किया ! आत्माकी अधिक शुद्धि व निर्जरा की !! इसे कितना बड़ा चमत्कार समझना !!

यह बात कृपालुदेवने पत्रांक ९१३ में ली है कि यह (अशाता) का प्रसंग अत्यंत कल्याणकारी है। (जब) अधिक पीड़ा हो, अधिक अशाता हो, तब अधिक कल्याण हो, देखो ! कैसा चमत्कार गिनना ! ऐसा चमत्कारिक उपाय दिखानेवाले महापुरुष हमारे देशमें हो गये और उनके वचन हमारे समक्ष हैं। एक ज़बरदस्त बात (यहाँ पर) की है कि सर्व क्लेशसे और सर्व दु:खसे मुक्त होनेका उपाय है, और वह एक ही उपाय है - अनेक उपाय भी नहीं हैं। एक उपाय है, यह सहूलियत भी है क्योंकि अनेक उपाय नहीं होनेके कारण दूसरे उपाय की खोजमें या दूसरे उपायके पीछे मेहनत करनेकी ज़रूरत नहीं है। एक आत्मज्ञान करना ज़रूरी है। यह आत्मज्ञान किस तरहसे हो, इस विषयको वे यहाँ पर क्रमसे खोलते हैं। इस उपायका भी कोई एक क्रम है। कृपालुदेवने क्रम पर बहुत वज़न दिया है।

पत्रांक ८३में - जो मनसुखराम सूर्यराम को पत्र लिखा है, उसके अन्दर क्रमकी बात की है कि क्रमसे चलना। जबकि जहाँ

भी वैज्ञानिक विषय होता है वहाँ यह विज्ञान, विज्ञानकी रीतसे ही काम करता है और दूसरी रीतसे वह काम नहीं होता, यह कोई भी आदमी समझ सके ऐसा विषय है। और उस क्रममें चलनेकी वहाँ एक आज्ञा है। और क्रम भंग करके चलनेसे निष्फलताके सिवाय दूसरा कुछ नहीं मिलता है। यह परिस्थिति होनेके कारण महापुरुषोंने क्रमका बोध अपनी शैलीमें दिया है। और कृपालुदेवके वचनामृतमें तो अनेक पत्रोंमें यह बात जगह-जगह देखनेमें आती है। २५४ नंबरका पत्र देखें तो उसमें भी मुमुक्षुताके प्रारंभसे लेकर पदार्थ निर्णय यानी कि आत्मस्वरूप का भावभासन, उसरूप जो बीजज्ञान, वहाँ तक पहुँचनेके क्रमका ही निरूपण किया है; कि पहले ऐसा होता है, फिर ऐसा होता है, फिर ऐसा होता है, फिर ऐसा होता है। ७५१ (पत्रांक) लें तो वहाँ भी सम्यग्दर्शनका क्रम लिया है, कि पहले प्रथम समकित ऐसे होता है, फिर दूसरा समकित होता है, फिर तीसरा समकित-परमार्थ समकित होता है। वहाँ भी क्रमसे ही बात ली है। इस पत्रमें भी यही बात है। ३३५में भी वही बात ली है। ३३५में एक वचनामृतमें है; ``**जो मात्र ज्ञानीको चाहता है, पहचानता है और भजता है, वही वैसा होता है, और वह उत्तम मुमुक्षु जानने योग्य है।**'' इसमें भी क्रम है कि जो `मात्र ज्ञानी' को चाहता है, दूसरी मनमानी करना नहीं चाहता है कि मैं यह पुस्तक पढ़ लूँ और यह शास्त्र पढ़ लूँ और यह क्रिया कर लूँ-फलाना कार्य कर लूँ, ऐसे नहीं। `मात्र' कहनेसे बात पूरी हो जाती है। (यानीकि) सिवाय दूसरा कुछ नहीं। वही ज्ञानीको पहचानता है। ऐसा क्रम है। इसके सिवाय ज्ञानीको पहचानना मुश्किल है। और जो पहचानता है, उसको पहचाननेसे इतना बहुमान आता है कि फिर वह उनको ही भजता है, वह ध्यानादिमें नहीं पड़ता।

यह ३३५ (पत्रांक)में लिखा है कि जो ज्ञानीको इच्छता है वह ध्यानादिकी इच्छा नहीं करता। यानी कि `आदिमें' दूसरे अनेक प्रकारकी क्रियाएँ ले लेना- उसकी इच्छा नहीं रखता, और वह क्रमसे आगे बढ़ते हुए ज्ञानी बनता है। और मुमुक्षुकी जो यह दशा है वह मंद दशा नहीं है, मध्यम दशा नहीं परन्तु उत्तम दशा है, ऐसा कहा है। उसने फलाने-फलाने शास्त्र पढ़े इसलिए उसकी उत्तम दशा है ऐसा नहीं लिया, इतना करें तो यह उत्तम कक्षाका मुमुक्षु है (ऐसा नहीं है)। इस तरह क्रमकी अनेक प्रकारकी बातें कृपालुदेवके वचनामृतमें देखने को मिलती हैं। यहाँ पर हमलोग इस दृष्टिकोण से थोड़ा विचार करें तो हमें समझने में बहुत ही स्पष्ट प्रकाश होगा।

``**विचारके बिना आत्मज्ञान नहीं होता,...** '' विचार बिना आत्मज्ञान नहीं होता। कौनसा विचार ? आत्मज्ञान प्राप्त होने का जो क्रम है, उसमें विचार होना ज़रूरी है। विचार होना जरूरी है। कौनसा विचार ? इसका विचार करना है, (कि) आत्मकल्याणका विचार। जिसको आत्मकल्याण करना है, ऐसा जिसका विचार है, उसको आत्मज्ञान होता है। आत्महित करना है, ऐसा जिसका विचार है, उसको आत्मज्ञान होता है। आत्मज्ञान मतलब आत्माके (जीवके) मूलस्वरूपका ज्ञान। मूलस्वरूपका ज्ञान। मूलस्वरूपका ज्ञान होनेके पीछे क्या कारण है कि जिसको लेकर मूलस्वरूपका ज्ञान होता है ? ऐसा अगर विचार करनेमें आये तो पहले आत्मकल्याणका उसको विचार होना चाहिए। विचार कहते हुए आत्मकल्याणका आशय होना चाहिए, आत्मकल्याणका ध्येय होना चाहिए, आत्मकल्याणका लक्ष्य होना चाहिए। इसके बिना किसीको भी आत्मज्ञान नहीं होता। इसका मतलब कि कोई कौतूहलवृत्तिसे आत्मज्ञान करने जाए तो

नहीं होवे। कौतूहलवृत्ति मतलब क्या ? कि अनेक पदार्थोंको, अनेक विषयोंको जाननेकी इच्छा, जाननेका लोभ, जाननेकी जिज्ञासा हर एक जीवको होती है, और इसके लिए लोग पुस्तक पढ़ते हैं, ग्रंथ पढ़ते हैं, अखबार पढ़ते हैं, टी.वी. देखते हैं, देशभरमें घूमने जाते हैं, देश-विदेशमें पर्यटन करते हैं। उसमें हेतु क्या होता है कि बहुत जान लें, अनेक विषयोंको जान लें। बहुत कुछ जाननेका मन होता है तो ऐसे ही चलो हम ऐसा करें कि आत्माको भी जान लें। आत्मज्ञानकी पुस्तक मिलती हो तो उसे पढ़ कर आत्माको भी जान लें कि आत्मा कैसा है लेकिन ऐसे नहीं होता।

आत्मकल्याणके हेतुसे, आत्मकल्याणके लक्ष्यसे और एकमात्र वही ध्येय रखकर अगर इसीके सम्बन्धित विचार किये जाएँ तो आत्मज्ञान होवे। वरना इसके सिवाय किसीको आत्मज्ञान नहीं हो सकता - ऐसा एक सिद्धांत है। यह भी आत्मज्ञान होनेके पूर्वका एक सिद्धांत है। ऐसा विचार क्यों उत्पन्न नहीं होता ? ऐसा विचार कर्तव्य है ऐसी समझ कर लेनेसे विचार हो जायेगा-ऐसा नहीं है; बल्कि ऐसा विचार सहज उत्पन्न होना चाहिए। जब कर्तव्य और अकर्तव्यका बोध सुननेको मिले, पढ़नेको मिले, जाननेको मिले तब उस बोधका परिणमन होनेके दो प्रकार हैं। एक सहज और एक कृत्रिम। कृत्रिम एक ऐसा प्रकार है कि हमें ऐसा कहनेमें आया है इसलिए हमें करना चाहिए, उसमें कृत्रिमता है। और ऐसा करना, वह हमारा धर्म और फर्ज़ है इसलिए सहज हमारा वैसा परिणाम होना चाहिए और होना ज़रूरी है। यह बोधका सहज परिणमन होनेकी सहज भूमिका है। तो यहाँ, यह आत्मकल्याणका विचार आत्माको सहज ही होता है। किसीने कहा, गुरुने कहा, भगवानने कहा, शास्त्रमें कहा इसलिए मुझे यह विचार हुआ है ऐसा नहीं।

अन्दरसे ऐसा आना चाहिए कि मुझे मेरा आत्मकल्याण कर ही लेना चाहिए, करना ही चाहिए। मैं आत्मकल्याण नहीं करूँगा तो दु:खी हो जाऊँगा, यह स्वाभाविक बात है। क्योंकि सुखी होनेका उपाय यह आत्मज्ञान ही है।

इसलिए विचारके बिना, आत्मकल्याणके विचार बिना आत्मज्ञान होता नहीं और यह आत्मज्ञान होनेके लिए आत्मकल्याणका विचारबल बलवानरूपसे होना चाहिए। इसका मतलब सामान्य विचारसे परिणाम के अन्दर, भावोंके अन्दर, आत्मज्ञानके प्रतिका जो कुछ भी विकास होना चाहिए, वह नहीं होता और यह सामान्यरूपसे सभी मुमुक्षुओंके अनुभवकी बात है। अकसर, ज़्यादातर मुमुक्षु स्पष्टरूपसे यह फ़रियाद करते हैं कि आत्मज्ञान सम्बन्धी अनेक पुस्तक पढ़ते हैं, अनेक वक्ता, अनेक ज्ञानी - इसमें कोई ज्ञानी भी होते हैं, उनके प्रवचन या वचन सुनते हैं लेकिन फिर भी हमारा बल - पुरुषार्थ काम नहीं करता है। क्या करना चाहिए ? एक वर्ष, दो वर्ष, पाँच वर्ष, पच्चीस वर्षसे इस क्षेत्रमें दाख़िल होने पर भी यह फ़रियाद खड़ी है। एक समस्याके रूपमें यह फ़रियाद आती है कि इस विषयमें जो बल होना चाहिए, जो पुरुषार्थ होना चाहिए, वह अन्दरसे आता नहीं उसका क्या करें ?

ऐसी एक उलझनका उपाय कृपालुदेव यहाँ बहुत संक्षेपमें देते हैं कि ``**असत्संग तथा असत्प्रसंगसे जीवका विचारबल प्रवृत्त नहीं होता, इसमें किंचित् मात्र संशय नहीं हैं।**'' बहुत ही अच्छा समाधान दिया है और थोड़ी भी जीव जाँच करे तो कृपालुदेवके ये वचन अनुभवज्ञान से उत्पन्न हुए हैं ऐसा अवश्य मालूम होगा।

असत्संगका मतलब क्या ? सत्संग सिवाय का कोई भी संग, वह असत्संग है। ठीक ! सत्संगके सिवाय बाकी जितना जगतके

जीवोंका संग है वह सब असत्संग है। फिर वे समाजके मनुष्य हों, चाहे कुटुम्ब के मनुष्य हों, चाहे धंधे-व्यवसायके-बाज़ार के या ऑफिसके मनुष्य हों, जिनका भी संग हो - वह सब असत्संग है।

संग के तीन प्रकार हैं। सत्संग, असत्संग और कुसंग। इसमें सत्संग एक ही कर्तव्य है। असत्संग और कुसंग कर्तव्य नहीं है। कुसंग तो किसी भी कीमत पर कर्तव्य नहीं है। खैर ! अभी अपना यह विषय नहीं है इसलिए इसकी चर्चा नहीं करते हैं। परन्तु असत्संगका विषय जब सामने आया है तो असत्संगकी अरुचि होनी चाहिए, असत्संगकी अरुचि होनी चाहिए और सत्संगकी रुचि होनी चाहिए। नहीं तो क्या होगा ? कि हम चौबीस घंटेके दिनमें घंटे-दो घंटे सत्संग करेंगे और बाकीके घंटे असत्संगमें बितायेंगे। और फिर हम ऐसा विचार करें कि पच्चीस-पच्चीस सालसे या पचास साल या दस साल जिसको जितने साल हुए, हमने इतना-इतना इसके अन्दर माथा मारा, मेहनत की फिर भी हमको क्यों इसका फल नहीं मिल रहा है ? आत्मज्ञान क्यों नहीं होता है ? जो कि भवभ्रमणसे छुड़ाता है, सर्व दुःखसे छुड़ाता है। (तो कहते हैं) कि बाइस घंटेके असत्संगका क्या ? इस प्रकार हमारा हिसाब-किताब भी हमने तपास किया नहीं होता है फिर भी Undue Advantage जिसे कहते हैं, क्योंकि यह Due नहीं है। इसका फल मिलना यह वहाँ पर Due होता नहीं। इसलिए Undue है। और हम इसका Advantage लेना चाहते हैं। लेकिन कैसे मिले ? यह माँग प्रमाणिक नहीं है। हमारी माँग भी प्रमाणिक नहीं है। बाज़ारमें भी माल खरीदते हैं तो कीमत चुकाते ही है न ! ऐसा नहीं कहते हैं कि रुपये का माल आठ आनेमें दे दो ना, दो आनेमें दे दो, ऐसा नहीं कहते हैं। रुपये का माल आप साढ़े पन्द्रह आनेमें दे दो, पन्द्रह आनेमें

दे दो, थोड़ा फायदा करके दो (तब तक ठीक है) और प्रमाणिकता तो उसीमें है। ऐसे यहाँ हमें प्रमाणिकतासे आत्मज्ञान लेना है ? या अप्रमाणिकतासे लेना है ? यह विचार हमें करना चाहिए। तो अब करना क्या ? चौबीस घंटे सत्संगमें अगर रहें तो फिर हमारे जीवनका-बाह्य जीवनका-उपजीवनका, आजीविका आदिके व्यवहारका क्या ? यह सवाल उठता है। Problem है ना, रोटी खानी हो तो आठ घन्टे ऑफिसमें ड्युटी तो देनी ही पड़ती है, करना क्या ? तो कहते हैं कि उसकी रुचि - अरुचिका सवाल है, प्रारब्धके अनुसार ज्ञानी भी सांसारिक प्रवृत्ति करते हैं और करते हुए दिखायी देते हैं। और यह बात तो कृपालुदेवके जीवनसे स्पष्ट समझमें आये ऐसी है। इसलिए ऐसा नहीं कहते हैं कि तुम मुमुक्षु हो इसलिए धन्धा-व्यापार अथवा नौकरी या कुटुम्ब परिवार छोड़कर सन्यासी बनकर (जंगलमें चले जाओ)।

जो-जो असत्प्रसंग हैं उन-उन असत्प्रसंगोंमें इस जीवकी कितनी रुचि है या अरुचि है इसकी परिणाममें जाँच कर लेनी चाहिए। जो-जो प्रसंगसे जीवको खुदको नुक़सान होता हो उस प्रसंगमें जीवको रुचि क्यों होती है ? बस ! इतनी जाँच कर लेनी है। ऐसे प्रसंगमें जीवको रुचि क्यों होती है ? बस ! इतना देखना है। बहुत सीधी-सादी बात है कि जहाँ खुदका अहित होता हो वहाँ रुचि रखना, उसमें रस आना (वही जीवको नुक़सानका कारण है)। जहाँ रुचि है वहाँ रस आयेगा और यह रस और रुचि तभी होते हैं कि जब उसकी कीमत और महिमा होती है, यह सब इसकी Link है। इसके बदले आत्मिक सुख, पारमार्थिक सुख प्राप्त हो ऐसा जो साधन, परम साधन ऐसा जो सत्संगकी अगर रुचि, इस रुचि और इसका रस और इसका महत्त्व आया हो तो, दो जगह रुचि

काम नहीं करती है और उसमें भी परस्पर विरुद्ध ऐसी दो दिशाओंमें तो कभी रुचि काम कर सकती नहीं। जिसको आत्महितकी रुचि है उसको संसारकी रुचि नहीं और जिसको संसारकी रुचि है उसको आत्महितकी रुचि नहीं होती। यह एक स्वाभाविक परिस्थिति है। यह बात कृपालुदेवने ३३१ (पत्रांक) में की है। ३३१में तो बहुत स्पष्ट बात की है कि :-

``**भ्रांतिवश सुखस्वरूप भास्यमान होते हैं ऐसे इन संसारी प्रसंगों एवं प्रकारोंमें जब तक जीवको प्रीति रहती है, तब तक जीवको अपने स्वरूपका भास होना असम्भव है, और सत्संग का माहात्म्य भी तथारूपतासे भास्यमान होना असंभव है।**'' यह सब (संसारके प्रसंग) असत्प्रसंग हैं व असत् प्रकार हैं। चाहे किसी भी प्रकारका प्रसंग हो उसमें जहाँ तक जीवको प्रीति रहती है यानी कि मिठास आती है, जैसे मानो हमारे घरमें बेटेका विवाह है - तो वह शुभ प्रसंग है या अशुभ प्रसंग है ? प्रश्न करने जैसा है। घरमें बेटेका विवाह हो उसे शुभ प्रसंग कहें या अशुभ प्रसंग कहें ? कि अशुभ (प्रसंग) है। हमलोग कुम-कुम पत्रिकामें लिखते हैं शुभ प्रसंग और इसके नीचे लिस्ट देते हैं, क्या ? कि बारात इस समय प्रस्थान करेगी, हस्त मिलाप इतने बजे होगा, फलाना ऐसे होगा, फलाना मुहूर्त इस वक्त है, फलाना इस तरह है। यह सब अशुभ प्रसंग इसलिये हैं कि इससे पुण्य बंध नहीं होता बल्कि पाप बन्ध होता है। यह सब प्रसंगमें तो पुण्य बन्ध भी नहीं है। शुभ प्रसंग तो उसे कहा जाता है कि जिसमें शुभ या पुण्य बंध होता है। इसमें तो पापका बंध होता है। परन्तु लौकिक दृष्टिसे इन्हें शुभ प्रसंग लिखा जाता है। वास्तविक दृष्टिसे, ज्ञानीकी दृष्टिसे या वास्तविक दृष्टिसे तो ये सब अशुभ प्रसंग हैं। इन सब प्रसंगोंमें जब तक जीवको प्रीति

वर्तती है, मिठास आती है, रस आता है, तब तक जीवको अपना स्वरूप भास्यमान होना असंभव है। आत्मस्वरूपका भावभासन तो नहीं हो सकता किन्तु इसके पहले का जो पहला समकित (वह भी नहीं हो सकता) तथा सत्संगका महत्त्व भी तथारूप भास्यमान होना असंभव है।

ज्ञानीपुरुषका जो संग है - परम सत्संग, उसकी भी कीमत नहीं आती है क्योंकि उसको जगतके प्रसंगोंकी कीमत है, विरुद्ध प्रसंग, असत्संगकी कीमत है। उसको सत्संगकी कीमत नहीं होती। सत्संगकी कीमत जिसे होती है, उसे असत्संगकी कीमत नहीं होती इसलिये ``**जब तक यह संसारगत प्रीति असंसारगत प्रीतिको प्राप्त न हो....**'' असंसारगत यानी मोक्षगत मोक्षका साधन ऐसा जो सत्संग उसमें रस एवं रुचि उत्पन्न न हो ``**...तब तक अवश्य ही...**'' निश्चय करके ``**अप्रमत्तभावसे**'' यानी कि ज़रा भी बेदरकारी रखे बिना पूरी लगनसे, पूरी सावधानीसे ``**....वारंवार पुरुषार्थको स्वीकार करना योग्य है। यह बात त्रिकालमें विसंवादरहित जानकर निष्कामभावसे लिखी है।**'' शंका नहीं करना। अथवा विवाद नहीं करना, तर्क नहीं करना, कुतर्क नहीं करना। जो लिखा है वह Full & Final-सम्पूर्ण सत्य है, ऐसा कहना है।

क्या लिया यहाँ पर ? कि जीवको आत्मकल्याण करनेका भाव होता है, परन्तु ऊपर-ऊपरसे होता है। संसारबल घटा ऐसा कब कह सकते हैं कि जब असत्संग और असत्प्रसंगसे जीवको अरुचि हो तब। ऐसा जब तक न हो, तब तक आत्मकल्याणका विचार होने पर भी विचारबल नहीं होता है। विचार होना एक बात है और विचारके साथ विचारबल उत्पन्न होना वह एक दूसरी बात है, ऐसा यहाँ लेना चाहिए। क्यों ? कि सामान्यरूपसे ऐसा विचार

तो अनेक मुमुक्षुओंको होता है और यह जीवने भी जब ``**यम नियम संयम आप कियो**'' इतने सारे साधन अनन्तबार किये तो भी उसने यह सब आत्मकल्याणका विचार किये बिना ही किये हैं, ऐसा तो नहीं है। और अभी भी आत्मकल्याणका विचार बिलकुल है ही नहीं और सब कुछ कर रहा है, ऐसा भी नहीं है। परन्तु विचार तो है लेकिन विचारबल नहीं है यह एक ठोस हक़ीक़त है और इसको स्वीकार करना पड़ता है क्योंकि सफलता नहीं मिल रही है। अत: विचार होते हुए भी विचारबल नहीं है यह बात स्पष्ट हक़ीक़त है।

इसका कारण यह है कि असत्संग और असत्प्रसंगमें इस जीवकी रुचि काम करती है। उसमें यह जीव रस लेता है। उसमें कहीं न कहीं सूक्ष्मरूपसे जीवको सुखकी आशा या अपेक्षा चलती है, भले ही शायद महत्वाकांक्षा नहीं हो, क्योंकि महत्वाकांक्षावाला तो इसके पीछे दौड़ लगायेगा और उसको तो आत्मविचार भी नहीं उत्पन्न हो पायेगा। लेकिन महत्वाकांक्षा छोड़ी हो फिर भी जब तक आशा-अपेक्षा रहती हो कि बाहरमें कहीं न कहींसे सुख मिलेगा, तब तक वह असत्प्रसंगोंकी रुचिको बंद होने नहीं देती है। जिसकी रुचि जीवको अनादिसे है, वह कोई नयी नहीं है। असत्संग और असत्प्रसंगकी रुचि जीवको अनादिसे है उसको बदलना ज़रूरी है। और जब तक वह नहीं बदलती है तब तक आत्मकल्याणका विचार ऊपर-ऊपरसे रहता है, अंतरंगसे - अंतर आत्मामेंसे नहीं होता है और इसलिये वह कभी सफल नहीं हो सकता हैं। इसमें किंचित्मात्र शंका करने जैसी नहीं है। यह शंका करने जैसा विषय नहीं है कि क्यों विचारबल काम नहीं करता है ? क्यों विचारबल उत्पन्न नहीं हो पाता है ? इसमें शंका हो ऐसा कुछ नहीं है। इस विषयमें एक थोड़ा विशेष विचार जो है वह इस प्रकारसे है कि मार्ग तो

दो हैं - सन्मार्ग और दूसरा उन्मार्ग अथवा एक संसारमार्ग और दूसरा मोक्षमार्ग, तीसरी कोई परिस्थिति नहीं है। अब अनादिसे इस जीवको मुख्यरूपसे जो सांसारिक संयोग है उसकी मुख्यता चली आ रही है, क्योंकि वहाँ इनकी सुख-दुःखकी मान्यताका प्रसंग है। दुःख नहीं चाहिए और सुख चाहिए इसके लिये ही सभी प्रकार की माथापच्ची संयोगोंके आश्रित होकर जीव करता है। इसका यह नतीजा आता है कि इसकी मुख्यतामें रहकर जब तक जीव धार्मिक क्षेत्रमें प्रवेश करके भी धर्म साधन करता है, वह धर्म साधन मुख्यरूपसे नहीं होनेके कारण कभी भी सफल नहीं होता है।

इसलिए अगर बहुत स्पष्ट भाषामें इस विचार को लें तो संसारके कार्य और सांसारिक फर्ज़; फिर इसमें समाजका, कुटुम्बका सभी फर्ज़ आ जाता है, वे सभी Top Priority में हैं और आत्मकल्याणरूप जो धर्म साधन है वह Last Priority में है। इसमें Second Priority है ही नहीं, दो ही Priority है-First & Last (प्रथम और अन्तिम) और इसमें फेरफार करना ज़रूरी है। इस परिस्थितिको पूरी उलटनी पड़े। First Priorityमें आत्मकल्याण रहता है और Last Priority में सांसारिक जो कोई उदय आ पड़ा हो, (वे आते हैं)। क्योंकि सभी जीव प्रारब्धका उपार्जन करके आते हैं, प्रत्येक जीव अपने पूर्व प्रारब्धको भोगता है और वह भुगतना Last Priority में आना चाहिए। ऐसा अगर हो तो अवश्य आत्मकल्याण हो जाये इसमें किंचित्मात्र भी संशय करने जैसा नहीं है। जैसे उसमें आत्मकल्याण कभी नहीं हो सकता, यह किंचित्मात्र भी संशय करने जैसा नहीं है, वैसे इसमें भी ऐसा ही है। सिर्फ बात इतनी है कि हमें Change Of Priority करनी होगी, और यह हो सके ऐसा भी है। हो सके ऐसा तो है, लेकिन क्या हम कर सकते हैं ? या हमसे हो सके

ऐसा है क्या ? हमारे परिणाममें हमको इतनी जाँच कर लेनी चाहिए। जब तक इस तरह जाँच करके पक्का निर्धार न हो तब तक सब ऊपर-ऊपरसे चलनेवाला है। अन्दरकी बात कोई दूसरी है उसमें किसी तरहसे आत्मकल्याण हो, यह परिस्थिति आनेवाली है ही नहीं, यह नि:शंक बात है, नि:संशय बात है। इसलिए ज़ोर देकर बात कही है कि ``**किंचित् मात्र संशय नहीं है।**'' ऐसी परिस्थिति है।

अब फिरसे क्रमसे बात करते हैं कि जीवको असत्संगका बल घटानेके लिए क्या करना चाहिए ? इसका भी कारण क्या ? असत्प्रसंग का बल तीव्ररूपसे वर्तता है तो इसके लिये क्या करना ? इस प्रश्नका खुलासा भी खुदने ही किया है कि ``**आरंभ-परिग्रहकी अल्पता करनेसे असत्प्रसंगका बल घटता है,...**'' जरूरियात कम करनी चाहिये क्योंकि अभी जमाना ही कुछ इस तरहका है। बाहरकी अनुकूलताके, पाँचो इन्द्रियोंके साधन अथवा विषय दिन - प्रतिदिन विविधता को प्राप्त होते जाते हैं, हर एक पाँच इन्द्रियके विषयमें नयी-नयी नोवेल्टी बाहर आती रहती है। आती रहती है कि नहीं ? १०० साल पहले जैसे हिन्दुस्तानका आदमी जी रहा था और आज जैसे जी रहा है उसमें बहुत बड़ा फ़र्क़ है। इसमें जरूरतका बहुत बड़ा फ़र्क़ आ गया है। गुजरातीमें एक जमानेमें ऐसी एक कहावत थी कि ``तावडी तेर वाना मागे'' (रसोई बनानी हो तो काफ़ी चीज की ज़रूरत पड़ती है।) और अभी अगर हमारी रसोईमें हम आईटम गिने तो एक सौ तेरहसे कम नहीं होगी, क्या ? क्योंकि पहले एक प्रकारका तवा आता था अब तवा भी तरह-तरहके मिलने लगे हैं। पहले एक आना, दो-आनामें मिलता था, अब १००-२०० रुपयेका तवा भी मिलता है। ये जो मिलता है ना आजकल जिसमें बननेवाली चीज चिपकती नहीं है, क्या कहते हैं उसे `नोनस्टीक'। वैसे तो

हम कोई इतनी जानकारी नहीं रखते हैं लेकिन थोड़ा बहुत सुना है। तो मतलब तवा भी १३ किसमका आने लगा है तो रसोईकी आईटम तो ११३ से ज्यादा ही होगी !

ज़रूरत बढ़ी है और ज़रूरत बढ़नेसे उसके लिये आरंभ-परिग्रह बढ़नेवाला ही है। और जब आरंभ-परिग्रह बढ़ेगा वहाँ असत्प्रसंग भी बढ़नेवाले ही हैं। सरकारने अट्ठावन वर्षकी उम्रमें Retirement Compulsory किया है फिर भी उसके बाद - Retirement के बाद लोग कुछ न कुछ ढूँढ लेते हैं। क्योंकि ज़रूरत है, करें क्या ? अब ज़रूरतको देखे तो उसका कोई Standard (निश्चित) नाप है क्या ? उसका कोई धोरण-स्तर नक्की है क्या ? आज हमारे समाजमें ५००-१००० कमानेवाला भी भूखा नहीं मरता है, बल्कि वह भी पेट भरकर खा लेता है। ५००० कमानेवाला भी भूखा नहीं मरता है, और पाँच लाख कमानेवाला कि पचास हजार कमानेवाला भी भूखा नहीं मरता है। तो अब जरूरतका सही नाप क्या है ? कि इसका कोई नाप ही नहीं होता है। कोई Standard है क्या इसका ? कि चलो भाई इतनी जरूरत हो तब तो ठीक है, लेकिन नहीं इसका कोई नाप ही नहीं रखता है। नाप ही नहीं रखता है इसका क्या कारण है ? कि जीवकी इच्छा और तृष्णाका कोई अंत नहीं है। तृष्णाका कोई अंत नहीं होता है। जहाँ तृष्णा अंतहीन होती है वहाँ जिन्दगीके जंजालका भी कोई अंत नहीं आता है और उसका भी कोई नाप नहीं रहता है। यह बहुत स्वाभाविक है।

अत: जिसका अभिप्राय अल्प आरंभी और अल्प परिग्रही होनेका है उसका असत् प्रसंगका बल घटता है। इससे उसका असत् प्रसंगमें Involve (एकमेक) होनेके परिणामका बल घटता है। और बादमें वैसे प्रसंग भी कम होते जाते हैं अथवा प्रसंग प्रारब्ध अनुसार रहते

हैं तो भी उसके परिणाममें तथारूप विपरीत बल नहीं रहता है, वज़न नहीं जाता है। ठीक है, जो हो रहा हो उसे होने दो ऐसा आये बगैर नहीं रहेगा। एक कपड़ा लेना हो, कुर्तेका कपड़ा लेना हो तो १५-२० रुपये मीटर भी मिलता है और ११५-१२० रुपये प्रति मीटर भी अभी मिलने लगा है। अब खुदको कौनसा लेना, यह आरंभ-परिग्रह कितना करना है उसके ऊपर निर्भर करता है। हलका तो किसको चाहिए ?! कि किसीको हलका नहीं चाहिए फिर भी जिसको आत्मकल्याण करना हो उसको अल्प आरंभी और अल्प परिग्रही होना ज़रूरी है। और तभी उसका असत्संग, असत्प्रसंगकी ओरका वज़न, बल कम होगा वरना इतना जुड़ करके परिणामकी प्रवृत्ति करेगा कि पूरा-पूरा घुस जायेगा। उसकी इच्छा अनुसार नहीं होगा तो उसकी आकुलताका भी पार नहीं रहेगा। यह परिस्थिति तो सबको थोड़े-बहुत अंशमें अनुभवगोचर है।

अब इस असत्प्रसंगका बल घटनेके लिये दूसरा कोई उपाय है कि नहीं ? तो कहते हैं कि हाँ ! उसका भी इलाज है। एकदम क्रमसे बात ली है ``**सत्संगके आश्रयसे असत्संग का बल घटता है।**'' सिर्फ सत्संगसे ऐसा नहीं लेकर के `**सत्संगके आश्रयसे**' ऐसे एक शब्द ज्यादा लिखा है। उनके अनुभवकी वाणी है न ! यह अनुभववाणी है, क्या ? कि सत्संग जो है मुमुक्षुके लिये आधारभूत प्रसंग है। मुमुक्षुकी भूमिकामें इसका बहुत बड़ा महत्त्व है। यद्यपि इस विषयमें अधिक समझके लिये यही शास्त्र उपयोगी है। इस विषयमें ज्यादा समझ सके ऐसा यह शास्त्र है कि कृपालुदेव खुद महाज्ञानी होने पर भी सत्संगमें रहनेकी इच्छा रखते हो तो मुमुक्षुको कहनेकी ज़रूरत है क्या ? समझानेकी ज़रूरत है क्या ? सिखानेकी ज़रूरत है क्या ? कि सहजरूपसे समझ सकते हैं कि मुमुक्षुको

तो विशेषरूपसे सत्संगका आधार व आश्रय होना चाहिए, जिससे पूर्वप्रारब्ध योगमें प्राप्त असत्संगके प्रति उसका वज़न कम हो जाय, बल कम हो जाय। वरना असत्संगका इतना बल रहता है, इतना बल रहता है कि बाकी आत्मकल्याणका प्रयास सब ऊपर-ऊपरसे चलेगा। जो भी साधन करेगा ऊपर-ऊपरसे होगा। जिसमें निष्फलताके सिवा कुछ हाथ नहीं लगता है, और सफलता नहीं मिलती है तो सब समय एवं शक्ति बेकार जाते हैं।

``**सत्संगके आश्रयसे असत्संगका बल घटता है**'' यहाँ पर हम थोड़ा विशेष विचार करें तो ऐसा है कि सत्संगका आश्रय माने क्या ? पहले तो सत्संग माने क्या ? कि `जिससे सत् का रंग चढ़े वह सत्संग।' संसारका रंग चढ़े ऐसे संगको यहाँ पर असत्संग और असत्प्रसंग कहा है। सत्का रंग, आत्माका रस जिन मुमुक्षुजीवोंसे चढ़े वैसे जीवका संग करना, उसको सत्संग कहते हैं। और अगर ज्ञानीपुरुष मिल गये तब तो रंग चढ़ेगा, चढ़ेगा और चढ़ेगा ही। इसलिए उसको तो परम सत्संग कहा है। कृपालुदेव उसको तो परम सत्संग कहते हैं। यह अनुभव करके नक्की करने जैसा विषय है कि हमारा जिसके साथ सत्संगका प्रसंग है उससे हमारे को सत्का रंग चढ़ता है कि नहीं ? आत्मरस उत्पन्न हो, या उत्पन्न हुआ आत्मरस वर्धमान हो ऐसा प्रकार हमारे परिणमनमें बनता है कि नहीं ? अगर ऐसा प्रकार नहीं बनता हो तो वह सत्संग नहीं है बल्कि असत्संग है। कहनेका आशय यह है कि धार्मिकक्षेत्रमें हर जगह सत्संग ही होता है ऐसी कल्पना या ऐसे भ्रममें रहने जैसा नहीं है। वास्तवमें यह जाँचका विषय है।

जैसे हम कोई भी डॉक्टरकी दवा नहीं ले लेते हैं। यहाँ राजकोटमें करीब १००० डॉक्टर होंगे, सभीकी या चाहे किसीकी

भी दवाई नहीं ले लेते हैं। किसी एक या दो-चार जिनके ऊपर विश्वास होता है उनकी ही दवाई हम लेते हैं। एक ही प्रकारके डॉक्टर काफी होंगे, Specialise लाईनके डॉक्टर भी काफी होंगे फिर भी हम किसी एक-दो की दवाई ही क्यों लेते हैं ? क्योंकि रोग होना एक गंभीर विषय है और उस रोगकी गंभीरता ऐसी है कि अगर उसको नहीं मिटाया जाय तो Danger Zone (खतरे) में प्रवेश हो जाय और आयुष्य पूरा हो जानेकी बारी आ जाये, दूसरा कुछ नहीं होवे। फिर भले ही वह सामान्य रोग हो। कहनेमें तो ऐसा आता है कि भाईको पीलिया हुआ है लेकिन अगर इसकी गंभीरताको नहीं समझा जाय तो पीलियामेंसे कठिन पीलियाका रोग हो जायेगा। सीधा ही Danger Zone में जायेगा। ये रोग तो इससे भी ज्यादा भयंकर भवभ्रमणका है। अनादिका Cronic है। ५-२५ साल पुराना नहीं है। सायन्सकी दृष्टिसे, विज्ञानकी दृष्टिसे तो Cronic रोग को हठीला रोग गिना है और निकालना मुश्किल माना है। यह तो अनन्तकालका Cronic रोग है। इसकी भयंकरता समझकर सत्संग भी चाहे किसीका भी कर लेनेमें आये तो वह भी उचित नहीं है अथवा वह कल्याणकारी नहीं हो सकता है। और हमारी समय-शक्तिका खर्च हो जाय इतना नुकसानीमें जाता है। वह खर्च नुकसानीमें जाता है।

अत: हमें जब सत्संगका आश्रय करनेको कहते हैं तब किसका संग करना यह एक विशेष विचार मांग लेता है कि चाहे किसीका भी संग नहीं कर लेना है। जैसे चाहे किसी भी डॉक्टरकी दवाई नहीं ले सकते हैं, ऊटपटांग इलाज नहीं करना चाहिए। वैसे सत्संगके क्षेत्रमें भी चाहे किसीका सत्संग नहीं हो सकता है - यह विचार भी गंभीरताकी अपेक्षा रखता है।

विशेष विचार उसमें काफी है। विस्तार करने जाये तो काफी समय लग जाय ऐसा है। लेकिन यह विषय महत्वपूर्ण भी है और हमें विशेष विचार अगर करना होगा तो कल सुबहके स्वाध्यायमें विशेष लेंगे। अभी समय हो चुका है। स्वाध्याय समाप्त करते हैं।

आत्मकल्याणकी यथार्थ भावना अनेक सद्‌गुण प्रगट करनेके लिये बीजभूत है।

जब तक अभिप्रायकी भूल नहीं सुधरती है तब तक परिणमनमें यथार्थ सुधार नहीं हो सकता।

(-पूज्य भाईश्री)

श्रीमद् राजचंद्र
पत्रांक ५६९

प्रवचन नं. २
दि. ३-१२-१९९४

श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत पत्रांक ५६९ चल रहा है। कल स्वाध्याय हुआ उसका संक्षेपमें अनुसंधान कर लें। सर्व दु:खसे और सर्व क्लेशसे तथा संसारकी सर्व प्रकारकी आधि, व्याधि, उपाधिसे मुक्त होनेका उपाय एक आत्मज्ञान है। नुकसानसे बचनेका यह सीधा उपदेश है। लाभको विचारें तो आत्मज्ञान एक ऐसा प्रबल कारण है कि जो भविष्यमें सादि अनंत-अनंत सुखको, अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, सहित देता है। नुकसानमें अनंत दु:ख है। उससे बच जाते हैं। लाभ भी अनंत है। ऐसा एक आत्मज्ञान है इसका मूल्य कितना ? इसका मूल्यांकन जो कर सके तो इस पदकी मुख्यता आए बिना रहेगी नहीं। ऐसी मुख्यता आती है कि `जगत इष्ट नहीं आत्म से' सारा जगत एक तिनके के समान भासित हो, खुदका आत्महित ही मुख्य हो जाए।

ऐसा होनेके लिए उस प्रकारका विचारबल होना चाहिए। इस

प्रकारके विचार बलकी प्राप्ति होनेके लिए असत्संग और असत्प्रसंगकी रुचिका अभाव होना चाहिए, अभाव हो जाना चाहिए। और असत्प्रसंग और असत्संग मिटानेके लिए आरंभ और परिग्रहका अल्पत्व करनेका विचार आये बिना रहेगा नहीं। आरंभ और परिग्रहका अल्पत्व करनेका जो अभिप्राय है, उस अभिप्रायके अनुसार बाह्य जीवनकी परिस्थिति और प्रवृत्ति होती है। यहाँ से पहले पैराग्राफसे हमें आगे चलना है।

``**आरंभ-परिग्रहकी अल्पता करनेसे असत्प्रसंगका बल घटता है,...**'' यानीकि अनेक जगह पर अनेक प्रसंगोंमें रुकनेके कारण भी कम हो जाते हैं। खुदकी जो रुचि है कि `अब मुझे कहीं भी मेरा समय बरबाद नहीं हो यह मुख्यरूपसे देखना है' १०५ नंबरके पत्रांकमें एक वचनामृत है ``**एक पल भी उपयोगपूर्वक बितानेवाला**'' वह यहाँ पर लागू होता है कि असत्प्रसंगमें जो समय जाता है वह समय किसी भी तरह नहीं जाना चाहिए। सुपात्र जीवका अभिप्राय इस विषयमें कैसा होता है? कि एक पल-पलका (भी) वह हिसाब करता है। उपयोग रखता है मतलब ऐसी सावधानी रहती है कि `मेरे आत्मकल्याणके लिये समय बीत रहा है, या मेरे आत्माके अहितमें मेरा समय बरबाद हो रहा है।' तीसरी तो कोई परिस्थिति नहीं है। या तो समय आत्महितमें पसार होता है और या समय आत्माके अहितमें पसार होता है।

``**सत्संगके आश्रयसे असत्संगका बल घटता है।**'' और वह समय असत्प्रसंगसे बचकर सत्संगमें व्यतीत होता है। सत्संग शब्दसे तो आज-कल बोलनेमें आसान हो गया है। स्वामीनारायण संप्रदायमें तो यह रूढ़ि अर्थमें कहलाता है। हम सब सत्संगी हैं ऐसा कहते हैं, वहाँ तो ऐसे ही बोला जाता है कि हम सब मंदिर आनेवाले

सभी सत्संगी हैं। इसका मतलब कि उसीको सत्संग मान लेना ऐसा नहीं है।

कृपालुदेवने सत्संगके ऊपर तो एक प्रकरण मोक्षमालामें लिखा है। मोक्षमालामें सत्संगके ऊपर एक प्रकरण, एक पाठ लिखा है। पढ़ने लायक है, विचार करने लायक है और इसका एक अंश हमलोगोंने स्वाध्यायमें उद्धृत किया था कि ``जिस संगसे सत्का रंग चढ़े वह सत्संग।'' आत्मरस प्रगट हो या आत्मरस प्रगट हुआ हो उसकी वृद्धि हो, इस प्रकारके संगमें आत्मार्थी जीवको, मुमुक्षुजीवको रहना चाहिए। सत्संगके विषयका बोध मुमुक्षुजीवकी भूमिकासे लेकर ज्ञानीकी दशा और मुनिकी भूमिका तक भगवानने दिया है। मुनि भी मुनियों के संगमें रहते हैं। और वे भी ऐसे संगमें रहते हैं कि जो उनसे विशेष गुणी हो। मुनि भी खुदसे विशेष गुणवान हो उनके संगमें रहते हैं। जिस मुनिदशामें छट्ठा-सातवाँ गुणस्थान क्षण-क्षणमें आता है। क्षणमें निर्विकल्प शुद्ध उपयोग प्रगट होता है, ऐसी मुनिदशामें भी सत्संगका बोध दिया है। कोई जिनकल्पी मुनि हो तो अलग बात है, अपवाद है। ज्यादातर स्थविरकल्पी मुनि होते हैं। वे भी दूसरे विशेष गुणी (मुनि) और आचार्योंके संगमें रहते हैं। ऐसी उत्कृष्ट साधक दशा होने पर भी उन्हें सत्संगका अनुसरण करनेका क्या कारण है ? जब कि वहाँ पर तो कुसंग और असत्संग है ही नहीं, फिर भी उपयोग तो बाहर जाता है ना ! यदि जीवका उपयोग बाहर जाता है तो जीवको विवेक करना पड़ता है कि उसका उपयोग कहाँ जाना चाहिए ? बाहर जाते हुए उपयोगमें भी व्यवहारसे आत्मसाधन हो ऐसा विवेक प्रगट न होता हो तो संसार साधन हुए बिना नहीं रहेगा और यह परिस्थिति अनिवार्य है।

इस कारणसे यहाँ पर मुमुक्षु और आत्मार्थीको तो विशेष प्रकारसे सत्संगका आश्रय करनेका भगवानने उपदेश दिया है। और इससे क्या लाभ होगा ? कि असत्संगका बल घटेगा। असत्संगका बल घटेगा, आरंभ-परिग्रहका अल्पत्व होगा और आत्मज्ञान हो ऐसे पुरुषार्थकी आत्मजागृति उत्पन्न होनेका अवसर आएगा। यह पूरी लिन्क फिर क्रमसे इस तरहसे ले लेना। ``**असत्संगका बल घटनेसे आत्मविचार होनेका अवकाश प्राप्त होता है।**'' नहीं तो असत्संगका इतना ज़ोर है; ज़ोर है का मतलब ? कि यह जीव असत्संगके प्रसंगोंसे घिरा हुआ है। ऐसी परिस्थिति है। एक विशेष विचार यहाँ पर इस प्रकारसे है कि, जब तक जीव असत्संगसे घिरा हुआ है या असत्संगकी चिन्तासे घिरा हुआ है - इसके विचारोंसे घिरा हुआ है तब तक वह (जीव) कोई भी साधन करता है तो उसमें वह साधन सफल नहीं होता है।

जैसे कोई मनुष्य कुएँमें नहानेके लिए जाए, उसे तैरना भले ही आता हो, पानीमें तैरता हो पर गहरे तलवेमें जाना हो तो उलटे मुँह जाना पड़े। नीचे जाना हो तो उलटे मुँह जाना पड़े। ऐसेमें कुएँके नीचे भेखड़ हो लेकिन पता नहीं चले और उसमें माथा अटक जाये तो चाहे जितना भी छटपटाए, हाथ-पैर चाहे जितना हिलाए, किन्तु मर ही जाएगा। डूब कर मर जाएगा। इस तरहसे यहाँ पर संसारके असत्प्रसंग और संसारके संयोगकी चिंतामें अनादिसे घिरा हुआ ऐसा यह जीव घन्टे-दो घन्टे स्वाध्याय करके अपेक्षा रखता है कि मेरा आत्मकल्याण हो जाए तो अच्छा है। परन्तु इस तरहसे आत्मकल्याण नहीं होता। और अमूल्य ऐसी मनुष्य आयु व्यतीत होती जाती है। जीवन चला जाता है। अमूल्य जीवन ऐसे ही बीत जाता है।

कृपालुदेवने ८३ नंबरके पत्रमें उल्लेख किया है - ज़रा पढ़ने जैसा है। पृष्ठ २०१, संसारकी चिन्तासे मुक्त होनेके लिए सबसे पहले क्रमके लक्ष्यसे, क्रमसे पहली दशा कैसी आनी चाहिए ? पूरा पत्र क्रमके ऊपर ही है। दूसरे पैराग्राफसे ``**तत्त्वज्ञानकी गहरी गुफाका दर्शन करने जायें तो वहाँ नेपथ्यमेंसे ऐसी ध्वनि ही निकलेगी कि आप कौन हैं ? कहाँसे आये हैं ? क्यों आये हैं ? आपके पास यह सब क्या है ? आपको अपनी प्रतीति है ? आप विनाशी, अविनाशी अथवा कोई त्रिराशी हैं ?**'' त्रिराशी लिया है ठीक ! यानीकि तीसरे कोई हो-ऐसे प्रास बिठाया है। ``**ऐसे अनेक प्रश्न उस ध्वनिसे हृदयमें प्रवेश करेंगे** '' ऊपर-ऊपरसे प्रश्न हृदयमें प्रवेश करेंगे ऐसे नहीं - इस तरहसे कहते हैं - ``**और इन प्रश्नोंसे जब आत्मा घिर गया**'' क्या कहा ? जो संसारकी चिन्तासे घिरा हुआ था वह उस घेरावसे छूटनेके लिए, इस चिन्तासे - परिभ्रमणकी चिन्तासे घिर गया। इस परिभ्रमणकी चिन्तासे जब घिर जाता है तब वह किस प्रकारसे घिर जाता है ? इस विषय पर कृपालुदेवके ही वचनामृत जिसे देखना हो तो देख लें, एक - एक विषयमें विस्तार करें तो आगे ही नहीं बढ़ सकेंगे। पत्र ही पूरा नहीं होगा। पत्रांक ८६ और पत्रांक १९५ इन दोनों पत्रोंमें एक ही विषय है कि इस जीवका परिभ्रमण क्यों हो रहा है और उससे किस प्रकार मुक्त हुआ जाय ? इस वाक्यमें अनन्त अर्थ समाया हुआ है। इस तरहसे यह बात की है। और इस बेचैनीको अब यहाँ लेंगे ``**तब फिर दूसरे विचारोंके लिये बहुत ही थोड़ा अवकाश रहेगा।**'' दूसरे विचारों अर्थात् संसारकी चिन्ता। जहाँ पर माथा फँसा हुआ था वहाँसे निकलेगा। और यदि ``**यद्यपि इन विचारोंसे ही अंतमें सिद्धि है,...**'' अंतिम सिद्धि इन्हीं चिन्ताओंसे होनेवाली है। यह प्रारंभका पहला क्रम है। ``**इन्हीं विचारोंके**

विवेकसे जिस अव्याबाध सुख की इच्छा है,...'' संपूर्ण सुखकी इच्छासे ``**उसकी प्राप्ति होती है;...**'' और ``**इन्हीं विचारों के मननसे अनंतकालकी उलझन दूर होनेवाली है;...**'' पहले संसारमें बेचैन रहता था, वह भी लिखा है। ``**संसारमें सभी जीव उलझनमें पड़े हैं।**'' यह कृपालुदेव का वचनामृत है।

जगतमें सभी जीव कोई न कोई प्रकारकी उलझनमें पड़े हैं। इस उलझनसे निकलने के लिए पहला कदम (First Step) यह है। इस सीढ़ी पर कदम रखे बिना, घंटे-दो घंटे निवृत्ति लेकर तत्त्वज्ञानका अभ्यास करें, क्षयोपशमकी शक्ति होनेके कारण कुछ एक धारणाएं और समझ भी हो जाती है, बौद्धिक स्तर पर तत्त्वज्ञानका कुछ मात्रामें विकास भी हो जाय, फिर भी सफलता नहीं मिलने का कारण यह है कि ८६ और १९५ पत्रके अनुसार इस विषयकी चिन्तासे वेदनाकी स्थिति आयी नहीं है। वहाँ पर एक बात लिखी है कि इस प्रश्नसे अन्दरमें बेचैन होकर तरसे बिना मार्गकी दिशाका एक अंशमें भी भान हो सके, ऐसा नहीं है। और इसमें बड़ी बात दिशा की है। अभ्यास करके कितना तत्त्वज्ञान सीखा, इसकी यहाँ पर ज़रूरत नहीं है, इसका काम नहीं है। काम यह है कि मार्गकी जो दिशा है उस दिशाकी सूझ आनी चाहिए और उस दिशाकी सूझसे मार्ग प्राप्त होना चाहिए। मार्ग की दिशा अंतर्मुख है। जब कि इस जीवने अनन्त बार यम, नियम, संयम आदि साधन किये हैं। ये सभी बहिर्मुख परिणामोंसे किया है। अंतर्मुख परिणामसे कोई साधन नहीं हुए हैं। अंतर्मुख परिणामकी जो दिशा बदलती है उस दिशाकी सूझ किसी एक अंशमें जब भी किसीको अगर आती है तो वह इस प्रकारकी तड़पनसे आती है।

तीन कालमें कोई भी मुमुक्षु या आत्मार्थी जीवको इसके सिवाय

क्रम शुरू हुआ हो, शुद्धिका क्रम, स्वरूपप्राप्तिका क्रम, आत्मसुखका क्रम शुरू हुआ हो - ऐसा वस्तुस्थितिमें नहीं है। जैसे एक क्रम ऐसा है कि आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके बिना सुख-शांति और आत्माका आनन्द नहीं है, मोक्षका कारण नहीं है और इसका फल मोक्ष भी नहीं है। उसके बावजूद भी तीन कालमें इस स्वरूपका अवलंबन लेनेके पहले सत्पुरुषका अवलंबन लिए बिना, अक्रमसे कोई मोक्षमार्गको या मोक्षको प्राप्त नहीं हुए हैं। अनन्त कालके तीनों कालमें कभी ऐसा क्रम किसीको हुआ नहीं है (और होगा भी नहीं) कि सत्पुरुषके योगमें होकर गुरुगम बिना आत्मज्ञान हुआ हो और आत्माका अवलंबन आया हो। ऐसा बन ही नहीं सकता। यह एक वस्तुस्थिति है, परिणामकी एक वैज्ञानिक परिस्थिति है।

ऐसे संसारकी चिन्तामें घिरे हुए जीवको जब तक आत्मस्वरूपकी प्राप्तिकी, परिभ्रमणके नाश करनेकी चिन्ता नहीं लगती है, तब तक पहली चिन्ता (संयोगोंकी चिंता) यथार्थ प्रकारसे मिटती नहीं है। वरना तो कोई ऐसा कहेगा कि वैराग्य आए और दीक्षा ले लेवे इसमें क्या? ऐसा नहीं है। दीक्षा लें या न लें, यह बात अलग है। पहली बात यह है कि इस चिन्तासे छूटनेके लिए दूसरी चिन्ता खड़ी हुई है कि नहीं ? और इसकी बेचैनी - तड़पन आयी है कि नहीं ? अगर ऐसा नहीं होता हो तो जो कुछ भी साधन किये हैं वे अक्रमसे किये हैं। जिससे मार्गसे दूर हो जायेंगे। और जितना दूर जायेंगे उतना ही पास आनेका परिश्रम बढ़ेगा। दूसरा कुछ नहीं होगा।

ज्ञानीपुरुषोंने खुदके स्वानुभवसे मोक्षमार्ग तक पहुँचनेके लिए भी क्रम बाँधा है और इसीलिए कृपालुदेवके वचनामृतमें इस एक बातमें बहुत वजन है। बार-बार इस बात पर वे निर्देश करते हैं

कि ज्ञानीके मार्ग पर चलना। ज्ञानीके मार्ग पर नहीं चलोगे तो स्वच्छन्दके कारण भटक जानेके सिवाय दूसरा कुछ नहीं होगा। हमारे सामने सौभाग्यभाईका दृष्टांत यह जीवंत दृष्टांत है। उन्होंने कोई शास्त्र नहीं पढ़े थे। उनको दूसरा कुछ इतना आता नहीं था; परन्तु उनका ज्ञानी के मार्ग पर चलनेका अद्‌भुत निश्चय - ऐसी एक जो उनके परिणमनमें योग्यता थी इस एक योग्यताके कारण वे तिर गए हैं। संसार तिर गये हैं ऐसा कहना चाहिए। उनके देहान्तके बाद उनके परिवारके ऊपर लिखा हुआ पत्र ७८३ (उसमें) पहला ही वचन यह लिया है। पत्रके शीर्षकमें तो श्री सौभाग्यको नमस्कार किया है। ``**श्री सोभागकी मुमुक्षुदशा तथा ज्ञानीके मार्गके प्रति उनका अद्‌भुत निश्चय वारंवार स्मृतिमें आया करता है।**'' पत्रका पहला वचनामृत यह है। हमको सौभाग्यभाई किस तरह याद आते हैं, कि यह एक विशिष्ट गुण उनमें था। नहीं तो जीव स्वच्छन्दमें चलता है और स्वच्छन्दमें चलनेसे संसार परिभ्रमणके सिवाय इसका कोई फल नहीं आता।

यह भी उन्होंने बहुत संक्षेपमें कहा है कि स्वच्छन्द और प्रतिबंध ये संसारमें भटकनेके मुख्य कारण हैं। प्रतिबंधोंको १९४ पत्रमें कहा, समाज प्रतिबंध, कुटुम्ब प्रतिबंध, देह प्रतिबंध और संकल्प-विकल्प प्रतिबंध। ये प्रतिबंध जीवको रुकावटके कारण हैं। और स्वच्छन्द है, यह जीवको मार्गके बजाय उन्मार्ग पर ले जाता है। सीधा उपायके बजाय उलटा उपाय करता है। और इसकी वजहसे परिभ्रमणसे छूटना बिलकुल नहीं हो सकता।

इसलिए यहाँ पर आत्मविचार होनेका अवकाश प्राप्त होता है, मतलब क्या ? कि आत्मकल्याणका विचार कहो, आत्मकल्याणकी चिन्ता कहो या आत्मकल्याणकी अप्राप्तिमें होता खेद, अत्यंत खेद

या जिसके लिए एक शब्द उन्होंने ऐसा इस्तेमाल किया है कि तड़पे - अत्यंत तड़पे। जैसे प्रियजनके वियोगमें - प्रियजनकी मृत्यु हो तब कोई तड़पता है। संसारमें तड़प-तड़प कर मरता है। ऐसे लोग भी देखनेको मिलते हैं। ऐसी परिस्थिति खुदके आत्मकल्याणके लिए हुए बिना सीधा किसीको आत्मज्ञान हो जाए ऐसा वस्तुके स्वरूपमें नहीं है। ऐसा कहने का वहाँ अभिप्राय है। असत्संगका बल घटनेसे आत्मविचार यानी कि आत्मकल्याणका विचार होनेका अवकाश प्राप्त होता है। आत्मविचार होनेसे (अर्थात्) 'इस प्रकारसे' आत्मविचार होनेसे - मूलमें यह बात है। आत्मविचार मतलब कोई आत्मज्ञानियोंकी लिखी हुई पुस्तक पढ़े, विचारे या चर्चा करे, इतनी बात नहीं ली, बल्कि इसकी चिन्तासे घिर जाए और अच्छी तरह उसके लिए तड़पनमें आये तो उसे आत्मज्ञान होता है। इस तरह कारण - कार्यकी संधी है।

कारण-कार्यको नहीं समझे तो कारण-कार्य विपर्यास या क्रम विपर्यास नामका एक नया दोष उत्पन्न होता है। और इस दोषको शास्त्रोंमें मिथ्यात्वके प्रकरणमें गृहीत मिथ्यात्व कहा है। देखो ! यह एक कैसी जवाबदारी खड़ी हो जाती है कि जीव करे तो तत्त्वज्ञानका अभ्यास, परन्तु क्रम और कारण-कार्यको नहीं समझ सकता है। ऐसी समझनेकी योग्यता न हो, दरकार न हो, सावधानी न हो, खयाल न हो, अनजान हो, अज्ञान हो तब तक दूसरी तरह चलता है और मानता है कि मैं अपने आत्मकल्याणका कोई उपाय कर रहा हूँ। जबकि उसे बुद्धिपूर्वक नया ग्रहण किया हुआ मिथ्यात्व कहते हैं। और उसको गृहीत मिथ्यात्व में गिना गया है। गृहीत मिथ्यात्वका वर्ग देखो तो मुसलमान, क्रिश्चियनसे लेकर सभी अन्य मतियोंका है। नग्न सत्य जरा कड़वा लगे ऐसा है; परन्तु गृहीत

मिथ्यात्व हुआ मतलब कि उनके बराबर ही हो गया। क्लास ही पूरा बदल गया। फिर भले ही जिनागमका अभ्यास हो तो भी। अरे ! समवसरणमें ऐसी स्थिति खड़ी होती है। अभी तो इस प्रकारका सुयोग नहीं है। २५०० वर्ष बीत गये वह ज़माना चला गया। परन्तु (जब) सत्युगके चौथे कालका प्रारंभ था, मतलब बहुत अच्छा काल था (तभी भी गृहीत मिथ्यात्व होता था)। जब कि ये तो हुंडावसर्पिणी काल मतलब अवसर्पिणीमें उतरता-उतरता काल। चौथे कालमें भी उतरता काल आया है तो पाँचवे कालमें तो कहनेकी ज़रूरत नहीं है बल्कि प्रत्यक्ष अनुभव होवे ऐसी बात है। फिर भी वहाँ ऋषभदेव भगवानके समवसरणमें भगवानकी वाणी छूटी तब सुननेवालोंमें ३६३ अन्यमतकी उत्पत्ति हुई थी, जब कि उन दिनोंमें तो कोई दूसरे मंदिर नहीं थे, दूसरे कोई साधु नहीं थे, दूसरे कोई अन्यमतकी परिस्थिति प्रसिद्धरूपसे नहीं थी। अभी तो बहुतसे संप्रदाय चलते हैं। मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारा और चर्च, अनेक प्रकारसे चलते हैं। उन दिनों कुछ नहीं था तो भी (गृहीत मिथ्यात्व) स्वतंत्ररूपसे होता था। भगवानकी वाणीमें ऐसा निमित्त नहीं होता है कि गृहीत मिथ्यात्व हो जाये, जबकि भगवानकी वाणीमें तो समकित हो जाय ऐसा निमित्त है। फिर भी जीव खुद ही स्वच्छन्द करे तो अनगिनत नुकसान होवे। और ``**रोके जीव स्वच्छन्द तो, पामे अवश्य मोक्ष; पाम्या एम अनन्त छे, भाख्युं जिन निर्दोष।**'' स्वच्छन्द इतना बड़ा दोष है। इसलिए इस दोषके ऊपर विशेष विचार कर्त्तव्य है।

``**आत्मविचार होनेसे आत्मज्ञान होता है, और आत्मज्ञानसे निजस्वभावस्वरूप, सर्व क्लेश एवं सर्व दुःखसे रहित मोक्ष प्राप्त होता है, यह बात सर्वथा सत्य है।**'' और जिसको आत्मज्ञान हुआ उसका अल्पकालमें मोक्ष होगा, होगा और होगा ही। साधकदशाका काल

असंख्य समय है - अनन्त समय नहीं है। भले ही बीचमें देवलोकका भव आ जाए। परन्तु वह असंख्य समयकी मर्यादामें आता है - अनन्त समयकी मर्यादामें नहीं जाता।

कोई ऐसा कहे कि इस कालमें तो मोक्ष है नहीं, तो फिर ज्ञानीपुरुष मोक्षकी बात क्यों करते हैं ? कि इस कालमें मोक्ष नहीं होता है ऐसा विचार करके मोक्षके कारणभूत आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें हतोत्साही होना है, क्या ? निरुत्साही होना है, क्या होना है ? क्या करना है ? बात यहाँ इस ढंगसे विचार करने जैसी नहीं है, ऐसा कहते हैं। जिसको आत्मकल्याणकी या मोक्षकी भावना है - मोक्ष जिसका साध्य है, मोक्ष जिसका ध्येय है, मोक्ष जिसका लक्ष्य है, उसे, अभी इस कालमें मोक्ष नहीं होता है यह बात गौण हो जाती है। भले ही यह सैद्धांतिक रीतिसे वस्तुस्थिति हो, परन्तु भावना है वह वस्तुस्थितिको नहीं गिनती, ठीक ! भावना है वह वस्तुस्थितिको नहीं देखती है। ऐसी प्रबल भावना ही आत्मवीर्यको स्फुरणा देनेका कारण बनती है।

इसलिए आत्मज्ञानका फल सीधा दिखाते हैं। आत्मज्ञानसे मुनिदशा आयेगी वैसे इसके बीचकी अधूरी दशाकी बात नहीं की है, सीधी पूर्ण दशाकी बात करते हैं कि आत्मज्ञानसे (मोक्ष होता है)। मोक्षकी परिभाषा है कि निजस्वभावस्वरूप; कैसा है मोक्ष ? कि जैसा आत्मस्वभाव है, सहज स्वभाव है। ऐसी ही अवस्था - ऐसी ही प्रगट अवस्था हो उसे यहाँ मोक्ष कहते हैं। इस अवस्थामें सर्व क्लेश और सर्व दुःखसे रहितपना होता है। दुःख और क्लेशका और मलिनताका, अपवित्रताका और विपरीतताका एक अंश जिसमें अनंतवे भागमें भी, कोई अंशमें भी न रहे ऐसी दशा, उसे यहाँ मोक्ष कहते हैं। और ``**यह बात सर्वथा सत्य है**'' यह बात परम

सत्य है। इसमें मीन मेख नहीं, फेरफार नहीं है। तीनों कालमें आत्मज्ञानीका मोक्ष हो चुका, हो चुका और हो ही चुका है। एक न्यायसे भावी नैगमनयसे उन्हें अभी मोक्ष हुआ ऐसा भी कहा जाता है। समयसारमें तो इसका पद है। भगवान अमृतचंद्राचार्यने एक कलश लिखा है ``**सईमुक्त एव**'' सम्यक्दृष्टिका वर्णन करते हुए यह कहा है कि ``**अचिंत्य शक्ति स्वयमेव देव**'' है ना ? ``**अचिंत्य शक्ति स्वयमेव देव**'' वह मुक्त है -- `**सईमुक्त एव**' आखरी पद ऐसे लिख दिया - वह तो मुक्त ही है। अब हम उनको बन्धा हुआ नहीं देखते हैं। उनका रिज़र्वेशन सिद्धालयमें यहीं पर नक्की हो गया। अल्पकालमें यह जीव सिद्धालयमें स्थान प्राप्त कर लेगा।

``**जो जीव मोहनिद्रामें सोये हुए हैं वे अमुनि हैं।**'' जो जीव मोहनिद्रामें सो रहे हैं, मतलब कि जिनकी अभी दर्शनमोहकी निद्रा पूरी नहीं हुई, सुप्रभात नहीं हुआ है (वे अमुनि हैं) पहला वचन लिया ना पुष्पमालामें; ``**प्रभात हुई जागो**'' मोहनिद्रामें से जागृत हो जाओ। सत्रह वर्ष की उम्रके पहले (कृ.देवके) कैसे वचन निकले हैं ! जैसे बारह अंगका सार हो ऐसे वचन निकले हैं। सत्रह वर्षके होनेके पहले कितने ही वचनमें तो बारह अंगका टोटल मार दिया हो ऐसे लिखे हैं। जो जीव मोहनिद्रामें सो रहे हैं वे अमुनि हैं; फिर भले ही वे दीक्षा लेकर फिरते हों परन्तु दर्शनमोह जिनका व्यतीत नहीं हुआ, दर्शनमोहके आवरणसे जो मुक्त नहीं हुआ अथवा जिनका आत्मा जागृत हुआ नहीं, जागृत चैतन्यरूप जिसका परिणमन होना चाहिए, उस प्रकारमें जो नहीं आया है, वे बाहरमें भले ही मुनि हों फिर भी वे अमुनि हैं।

``**निरंतर आत्मविचारपूर्वक मुनि तो जाग्रत रहते हैं।**''मुनि तो निज चैतन्यके स्वरूपकी जागृतिमें निरंतर जागृत ही होते हैं। और

जबसे जागृति आती है तबसे ही मुमुक्षुता आती है। जागृति आए तभीसे ज्ञानदशा होती है। मुनिदशामें तो निरंतर जागृति होती है। नींदमें भी जागृति होती है। साधकदशामें ऐसा लगता है कि अभी ज्ञानी सो रहे हैं; परन्तु वे अन्दरमें जागृत होते हैं। परन्तु ये बात उस प्रकारके परिणामके अनुभव बिना समझमें आये ऐसी नहीं है। समझमें आये ऐसी तो नहीं है; परन्तु इस अलौकिक दशाका, अचिंत्य दशाका चिन्तवन या अनुमान करने जाए तो भी समझमें आये ऐसा नहीं है। थोड़ासा उस तरफ झुके बिना, आंशिक अनुभव लिए बिना (वह समझमें नहीं आता है); यहाँ आगे कहेंगे; अंतर्भेद जागृति हुए बिना, इस बातको समझ भी नहीं सकते। इस पत्रके अन्दर विशेष बात उन्होंने अंतर्भेद जागृतिकी ली है। बहुत अच्छी बात ली है। और मुमुक्षुजीवको इस विषयके ऊपर आकर्षण हो जाय ऐसा एक प्रकार यहाँ संकेतके रुपमें लिया है।

``**जो जीव मोहनिद्रामें सोये हुए हैं वे अमुनि हैं। निरंतर आत्मविचारपूर्वक मुनि तो जाग्रत रहते हैं।**'' अथवा आत्मविचारकी जागृति निरंतर रहे ऐसा अवश्य-अवश्य होने योग्य है, भले करने योग्य ऐसा कहो, परन्तु कर्तृत्वपनेसे नहीं होनेके कारण वैसी दशा होने योग्य है। अगर खुदको खुदके आत्मकल्याणकी भावना न हो, दरकार न हो, तो ऐसा महान कार्य कैसे हो ? ऐसी दरकार जिसकी नहीं है, जागृति नहीं है, सावधानी नहीं है, उसे यहाँ भगवान प्रमादी कहते हैं। भले ही चौबीस घंटे, खुदकी मानी हुई जिम्मेदारियाँ निभाता हो तो भी वह प्रमादी है, क्योंकि आत्मकल्याणके विषयमें उसका प्रमाद चल रहा है।

``**प्रमादीको सर्वथा भय है,...**' वह प्रमादी चाहे जितना भी पुरुषार्थ करता हो परन्तु वह संसारके प्रति पुरुषार्थ है। जो कुछ करता

हो चाहे लौकिक या धार्मिक - वह संसारके प्रति पुरुषार्थ है। जो प्रमाद है। और इसको इस लोकका भय, परलोकका भय, मरणका भय आदि सर्व प्रकारके भय उत्पन्न हुए बिना रहते नहीं। (होना चाहे तो भी) किसके आश्रयसे निर्भय हो ? जब तक जीवको खुदके शाश्वत अव्याबाध स्वरूपका अवलंबन और आश्रय नहीं आता है, अंतर्मुख होकर अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता है, तब तक निर्भय होना किसी भी तरह संभवित नहीं है। तब तक भय है। जिसको यह भान हुआ कि, मैं शाश्वत हूँ इसलिए मेरा कभी मरण नहीं होगा। और अव्याबाध स्वरूप होनेके कारण मुझे बाधा पहुँचानेका किसीका सामर्थ्य नहीं है, ऐसी प्रतीति सहितका अनुभवज्ञान जब तक नहीं होता है तब तक भयकी उत्पत्ति हुए बिना नहीं रहती। अनादिसे यह स्थिति है।

सर्व प्रकारके - सातों भयसे जीव घिरा हुआ है। घिरा हुआ है इतना ही नहीं भयान्वित दशाका दु:ख भी अनंत है। परन्तु उसकी आदत हो गई है। इस दु:खको सहन करनेकी भी इसकी आदत हो चुकी है। जैसे कोई पीड़ा सहन करते हुए जीव पीड़ाको सहन करते- करते उसका आदी हो जाता है। अभी ठंड है तब शुरू-शुरूमें ज़रा लगेगी, फिर आदत पड़ जाएगी। कैसे खाना, कैसे कपड़े पहनना, कैसे सोना उसकी सारी तैयारी हो जाएगी, आदत पड़ जायेगी। फिर ठंड बहुत पड़ती हो तो भी इसकी कोई माथाकूट नहीं रहेगी। जीवको शुरू-शुरूमें थोड़ा पलटा खाना हो तब मुश्किल लगता है। ऐसे अनंत कालसे अनंत दु:ख सहन करनेकी अनंत शक्ति होनेके कारण - (सहन करनेकी शक्ति भी इसकी अनंत है)। क्योंकि शक्ति तो शक्ति है न ! चाहे सुख भोगे या चाहे दु:ख भोगे। Power is Power फिर इससे आप चाहे पानी गरम करो,

चाहे फ्रिज़का पानी ठंडा करो, या गीज़रका पानी गरम करो। Power is Power ऐसे शक्ति अनंत है तो दुःख भी अनंत सहन करता है। और सुख प्रगट करेगा तो भी अनंत प्रगट करेगा। उन सभी प्रकारके भयमें अनंत दुःख है। और अप्रमादीको (मतलब चैतन्यकी) जागृतिमें किसी तरहका भय नहीं है।

``**ऐसा श्री जिनेंद्रने कहा है।**'' कैसी वचन शैली है ! कहनेकी शैली भी कितनी सुंदर है। मैं कहता हूँ, मैं कहता हूँ, ऐसा अहम्भाव कहीं दिखाई नहीं देता। वरना तो बहुत अच्छे-अच्छे क्लास वन ओरेटर हो, बहुत अच्छे वक्ता हो परन्तु अन्दर ``मैं ऐसा कहता हूँ'' ऐसा अहम्भाव (आये) बिना नहीं रहता। ``मैं कहता हूँ और ऐसा है'' वैसा अन्दर आये बिना नहीं रहता। ऐसे महान सिद्धांतोंकी बात करते - करते भी श्री जिनने ऐसा कहा है। भगवान जैन परमेश्वर, निर्दोष परमात्मा, सर्वज्ञदेवने यह बात कही है। परन्तु अभी तो सर्वज्ञ हैं नहीं तो आपने ये किस तरह नक्की किया ? ठीक ! जब कि अभी इस (भरतक्षेत्रमें) २५०० वर्षसे तो सर्वज्ञके दर्शन हो ऐसी परिस्थिति नहीं है। तो कहते हैं, कि अंतर्ज्ञानसे नक्की किया। खुदका जो सर्वज्ञ स्वभाव है उसे स्पर्श करके निकली हुई यह वाणी है। अन्दरमें तो सर्वज्ञ स्वभाव है कि नहीं ? महाविदेह क्षेत्रकी बात दूसरी है। वहाँ तो निरंतर होते हैं, सर्व कालमें होते हैं। परन्तु भरत क्षेत्रमें सर्वज्ञके विरहका काल बहुत लंबा है। परन्तु अन्दरमें सर्वज्ञ स्वभाव अनादि अनंत मौजूद है। बस ! इसको सँभाले इतनी देर है। इससे ज्यादा देर नहीं है। खुदके सर्वज्ञस्वरूपकी सँभाल करें इतनी ही देर है। और यह सर्वज्ञ स्वभावको स्पर्शी हुई ये वाणीमें से खुदको प्रतीति आती है कि यह बात तीर्थंकर देवने इस प्रकार कही है। यहाँ पर जिन शब्द इस्तेमाल किया है। अनेक

जगह पर तीर्थंकरके नामसे भी बात की है कि ``**अप्रमादीको किसी तरहसे भय नहीं है**'' और यह उनका साक्षात् अनुभव बोलता है।

``**सर्व पदार्थके स्वरूपको जाननेका हेतु मात्र एक आत्मज्ञान करना ही है।**'' यहाँ पर एक बहुत महत्वकी प्रयोजनभूत बात है। अनेक ग्रंथोंसे सर्व पदार्थके स्वरूप जाननेका निमित्त बनता है। वह एक ज्ञानकी वृद्धि होनेका साधन है, अनेक ग्रंथोंका अभ्यास करनेका योग बनता है। इसके पीछे हेतु क्या है ? हेतु अर्थात् यहाँ पर प्रयोजन लेना है। सन्मार्गके सम्बन्धमें कोई केन्द्रस्थानमें एक बात है तो वह ऐसी बात है कि आत्महितके प्रयोजनको पकड़कर, इस मार्गमें जो भी कोई जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट दशामें वर्तते हैं वे एक ही प्रकारसे वर्तते हैं। उसका केन्द्रस्थान यही है। यदि प्रयोजनको पकड़कर तत्त्व अभ्यास होवे तो अल्प कालमें प्रयोजनकी सिद्धि हो जाय। प्रयोजन छोड़कर चाहे कितना भी ग्यारह अंग और नौ पूर्व तकका, अभ्यास हो जाए तो भी वह परलक्षी ज्ञान निष्फल जाता है। आत्मकल्याणके लिए तो निष्फल जायेगा, आत्माके गुण तो उत्पन्न नहीं होंगे, परन्तु उलटा शास्त्रीय अभिनिवेशका अवगुण उत्पन्न हो जाएगा। लाभ तो नहीं होगा बल्कि नुकसान हो जाएगा। शास्त्र पढ़कर भी नुकसान होता है क्या ? अगर पढ़नेका तरीका नहीं आता हो तो ज़रूर नुकसान होवे। इसीलिए तो कृपालुदेवने कुछएक सूत्र लिखे हैं कि - ``**शास्त्र शस्त्र बन जाते हैं।**'' अनअधिकारी जीव शास्त्र पढ़ता है तो शास्त्र है वह शस्त्रका रूप ले लेता है। सोनेकी छुरी भेंटमें अच्छी लगती है, पेटमें घुसानेके लिए नहीं होती वरना तो (आदमी) मर जाए। सोनेकी छुरी है इसलिए मारो पेटमें, कोई बात नहीं, ऐसे कोई मारेगा क्या ? वह सिर्फ दिखानेकी वस्तु है। ऐसे यहाँ ऐसा कहना है कि सभी पदार्थके स्वरूपको जाननेका

हेतु माने प्रयोजन सिर्फ एक आत्मज्ञान करना वही है। इसलिए आत्मज्ञानकी प्राप्तिके प्रयोजनको छोड़े बिना जो कुछ भी ज्ञान करना सो करना, वरना इस माथाकूटमें उतरने जैसा नहीं है। उन्मार्ग (अर्थात्) गृहीत मिथ्यात्वके मार्ग पर चढ़ जाओगे।

एक प्रकारसे विचार करें तो बहुत बार स्वाध्यायमें यह प्रश्न ऐसे आता है कि तत्त्वज्ञान का अभ्यास पच्चीस-पचास वर्षोंसे कर रहे हैं फिर भी क्यों इसका फल नहीं आया ? अनेक शास्त्र पढ़े और बहुत-बहुतसे कंठस्थ भी हो गये, पढ़ते-पढ़ते इतना दृढ़ हो गया, लेकिन निर्विकल्प स्वानुभवरूपी आत्मज्ञान क्यों उत्पन्न नहीं हो रहा है ? विकल्पोंमें ही चल रहे हैं यह तो खुदको मालूम होता है। उसका कारण यही है कि खुदके प्रयोजनको लक्ष्यमें रखकर यह प्रवृत्ति नहीं हुई है। यदि प्रयोजनको पकड़कर यह प्रवृत्ति होती तो शास्त्र तो आत्मज्ञानमें निमित्त हो ऐसे ही है। शास्त्र तो शास्तापुरुषके वचन हैं, अनुभववाणी है - उससे तो आत्मकल्याण अवश्य हो जाये, लेकिन कब ? कि प्रयोजनकी पकड़ हो तब। प्रयोजनकी पकड़ मतलब क्या ? कि अभी मैं कहाँ (किस भूमिकामें) खड़ा हूँ ? और एक कदम आगे बढ़नेके लिए मुझे क्या करना चाहिए ? Ultimate प्रयोजन मोक्षका है, जो ध्येय है वह तो मोक्षका है। परन्तु वर्तमान प्रयोजन और अंतिम प्रयोजन इन दोनोंके बीच अनुसंधान होना चाहिए। कहाँ पहुँचना है और पहला कदम किस तरफ रखना चाहिए कि जो मेरी मोक्षकी दिशा है उस दिशामें, दूसरी दिशामें कदम नहीं रखना चाहिए। इसलिए खुदकी योग्यता अगर समझमें आये, तो इस भूमिकाके अनुसार वर्तमान प्रयोजन समझमें आता है और वह भी अंतिम प्रयोजनके लक्ष्यसे। तो ही जीवका विकास होता है वरना जो भी साधन करेगा उसमें `उभाँगडे' (बिना कोई ठिकाना) चलता

है। गाँवटी भाषामें कहते हैं ना ? यह 'उभाँगडे' चलता है, ठीक रास्ते पर नहीं चलता है। यह उलटा-सीधा चलता है। यहाँ पर उलटा-सीधा चलनेमें और अक्रमसे चलनेसे नुकसानको न्यौता देने के सिवाय दूसरा कुछ नहीं होता।

उसको शास्त्रीय अभिनिवेश हुए बिना रहेगा नहीं; क्योंकि जीव अनादिसे पर्यायदृष्टि है। पर्यायमें अहम्भाव चला आ रहा है। जैसे कोई नया क्षयोपशम बढ़ेगा कि उसमें अहम्भाव होगा ही। कोई अलग प्रकारकी क्रिया करेगा उसमें अहम्भाव होगा ही। कषाय मंद होगा तो उसमें अहम्भाव होगा। मुमुक्षुकी भूमिकामें पर्यायदृष्टि (रहती) है। आत्मज्ञान नहीं होता है तब तक द्रव्यदृष्टि नहीं होती और यह (पर्याय) दृष्टि हो फिर भी पर्यायमें अहम्भाव नहीं हो इसकी कोई चाबी तो होनी चाहिए, Master Key तो होनी चाहिए। इसके लिए इतना होना ज़रूरी है कि, अंतिम लक्ष्य पूर्णताका होगा तो तब तक (पर्यायमें) चाहे जितना फेरफार (सुधार) होगा तो भी अधूरा हूँ इसका भान रहेगा, अभिनिवेश नहीं होगा, अहम्भाव नहीं होगा और यथार्थ प्रकारसे, क्रमसे जीव आगे बढ़ सकता है। अत: यहाँ आत्मज्ञानके सम्बन्धमें एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात की है। थोड़ी इस विषय पर विशेष चर्चा करेंगे। आजका समय पूरा होता है।

प्रयोजनकी जागृति वही प्रयोजनकी सफलताकी चाबी है।

(-पूज्य भाईश्री)

(श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत, पत्रांक ५६९ चल रहा है।) ``**सर्व पदार्थके स्वरूपको जाननेका हेतु मात्र एक आत्मज्ञान करना ही है।**'' वहाँसे चालू करना है। सभी पदार्थोंको जाननेका हेतु, मतलब कि जो कुछ जानना है, समझना है, उसके पीछे एक आत्मज्ञान हो, वही प्रयोजन होना चाहिए। जब तक प्रयोजनका सूक्ष्म और तीक्ष्ण दृष्टिकोण प्रगट न हो तब तक जिज्ञासा कहो, कुतूहल वृत्ति कहो, इस प्रकारके परिणामसे अप्रयोजनभूत विषयका लक्ष्य रहा करता है। अनजानेमें भी ऐसा एक दोष रहा करता है। जिसका खुदको प्रयोजन नहीं हो फिर भी जाननेमें नई बात हो, नया-नया जानना यह कुतूहलवृत्तिका स्वभाव है। नया जाननेके लिए अनेक प्रवृत्ति करनेमें आती है। और स्वाध्यायमें भी अगर यही प्रवृत्ति रही और खुदके वर्तमान प्रयोजनका लक्ष्य नहीं रहा अथवा आत्मज्ञान

करनेके हिसाबसे यह प्रयोजन कैसे सधता है ? किस प्रकारसे प्रयोजनको स्पर्श करनेवाली यह बात है ? कि जिसका प्रयोजन मात्र आत्मज्ञान है। अगर इस प्रकारका दृष्टिकोण साध्य करनेमें नहीं आये तो जो कुछ भी जानना होता है, जो कुछ समझनेका होता है, वह अप्रयोजनभूतके लक्ष्यसे होता है। और नुकसान इस प्रकारका इसमें होता है कि खुदके लिये प्रयोजनभूत विषय सामने आये तब लक्ष्य नहीं जाता है और खुद ऊपरसे चला जाता है।

फिर से इस विषयको लें; प्रयोजनभूत और अप्रयोजनभूत ऐसे दो प्रकारके विषय शास्त्र पढ़ते वक्त सामने आते हैं। प्रश्न यह हो सकता है कि शास्त्रकार अप्रयोजनभूत विषयका निरूपण क्यों करते हैं और क्यों लिखते हैं ? परन्तु यहाँ यह सवाल नहीं है। यहाँ इतनीसी बात है कि मेरे लिये प्रयोजनभूत बात है कि नहीं ? इतनी ही बात है। शास्त्र रचना जो की जाती है - ये महान पुरुषों द्वारा जो-जो शास्त्रोंकी रचना होती है, इसमें शासनके अनेक कोटिके जीवोंको लक्ष्यमें रखकर, अनेक योग्यतावाले जीवोंके, भिन्न-भिन्न योग्यतावाले जीवोंके, काममें आये ऐसा उपदेश भिन्न-भिन्न प्रकारसे दिया हुआ है। इसलिए इस सम्बन्धमें सिद्धांत ऐसा है कि सारा उपदेश एक जीव पर लागू नहीं होता। उसी तरह एक ही उपदेश सभी जीवों पर लागू नहीं होता, ऐसा सिद्धांत है, और शास्त्रज्ञान इस प्रकारसे होनेके कारण शास्त्रका अध्ययन करनेवाले, स्वाध्याय करनेवाले मुमुक्षुको यह विचार कर्तव्य है कि मेरे प्रयोजनकी बात कहाँ है ? और किस प्रकार है ? मुझे आत्मज्ञान करना जरूरी है तो आत्मज्ञान करनेके लिये यह विषय मुझे किस तरह काममें आये ? या नहीं आये ? इतना विचार करना पड़ता है। और इस तरह अगर विचार करनेमें नहीं आये तो अप्रयोजनभूत विषयका भी

बहुत जानना हो जायेगा और प्रयोजनभूत विषय रह जायेगा। या फिर प्रयोजनभूत विषय सामने आयेगा तो भी छूट जायेगा। ऐसी एक परिस्थिति खड़ी हो जाती है।

इसलिए यहाँ इस प्रकारसे कृपालुदेवका संकेत है कि सभी पदार्थका स्वरूप जाननेका हेतु मात्र एक आत्मज्ञान करना वही है। एक आत्मज्ञान करनेके प्रयोजनार्थ जो कुछ जानना है सो जानना है, वरना नहीं जानना है, छोड़ देना है, गौण कर देना है।

``**यदि आत्मज्ञान न हो तो सर्व पदार्थोंके ज्ञानकी निष्फलता है।**'' जितना जाना इतना व्यर्थ है, निष्फल है। इसलिए जाननेका तो Information Bureau में भी होता है। हमको हमारे मानसपथको Information Bureau बनाना नहीं है। मेरे प्रयोजनको स्पर्श करती हुई बात के साथ मेरा सम्बन्ध है। दृष्टांत लें तो इस प्रकार है कि खुद मुमुक्षुकी भूमिकामें है, मुमुक्षुमें भी मंद मुमुक्षुता है, मध्यम कोटिकी मुमुक्षुता है और उत्कृष्ट मुमुक्षुता होती है। खुदकी मंद दशा है, मध्यम दशा है, या उत्कृष्ट दशा है यह बात भी स्वयं के ख्यालमें, समझमें होनी चाहिए, इसका सही भान होना चाहिए। अच्छा ! फिर कितनी ही बातें ज्ञानियोंको उपदेश दिया हो, ऐसी भी शास्त्रमें आती हैं। कितनी ही बातें मुनियोंको उपदेश दिया हो ऐसी भी शास्त्रमें आती हैं, तो मुमुक्षुके लिए व प्रयोजनभूत नहीं हैं। फिर भी ज्ञानदशा और मुनिदशाका विस्तार और वर्णन आता है तो वैसी दशा प्राप्त करनेकी प्रेरणा और भावना उत्पन्न हो, इतना प्रयोजन अवश्य है और वैसी दशावान महात्माओंको पहचाननेका प्रयोजन अवश्य इसमें है। परन्तु उस दशामें खुदकी कल्पना करना या खुदका सीधा प्रयोजन वहाँ लागू होता नहीं है। इस तरह खुदके प्रयोजनके विषयमें सूक्ष्म और तीक्ष्ण दृष्टिकोण होना जरूरी है। और

ऐसा न हो तो जो कुछ जानना होता है वह निष्फल है, इसकी कोई सफलता नहीं होती है।

``**जितना आत्मज्ञान होता है उतनी आत्मसमाधि प्रगट होती है।**'' जितना आत्मज्ञान होता है यानी कि आत्माको अनुसरते हुए तारतम्यता विशेषसे जितने परिणाम वर्तते हैं उतनी मात्रामें आत्मशांति और आत्मसमाधि प्रगट होती है। साधकदशामें गुणस्थान अनुसार समाधि भाव होता है। एक गुणस्थानमें भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ऐसे स्थूल तीन भेद होते हैं। सूक्ष्म भेदमें तो एक गुणस्थानके तारतम्यभेद असंख्य हैं। क्योंकि वह मिश्र दशा है, इसलिए आत्माका अनुसरण करते हुए जितने परिणाम हो उतनी आत्मसमाधि प्रगट होती है। साधक दशा मतलब संपूर्ण सिद्ध दशा नहीं हुई है वैसी दशा। और साधक दशा मतलब संपूर्ण बाधक दशा नहीं है, वैसी दशा। साधक दशा माने थोड़ा साधकपना और थोड़ा बाधकपना। ऐसा होनेकी वजहसे यहाँ ऐसा कहना है कि जितना साधकपना है उतनी आत्मसमाधि प्रगट होती है, उतना आत्मज्ञान लेना, इतना आत्माको अनुसरता हुआ परिणमन लेना। बाकीका परिणमन बहिर्मुख अंश है। साधक दशामें सर्वांश बहिर्मुखता भी नहीं होती और सर्वांश अंतर्मुखता भी नहीं होती। सर्वांश अंतर्मुखता तो मोक्ष दशामें होती है। सर्वांश बहिर्मुखता तो अज्ञान दशामें होती है। साधक दशामें अंशत: साधकपना है अंशत: बाधकपना है। अथवा मुख्यरूपसे साधकपना है, गौणरूपसे बाधकपना है परन्तु जब तक जितना अंश बाधकपनेका है तब तक मोक्षदशा नहीं है परन्तु साधकदशा है। यानी जितनी साधक दशा है, उतनी आत्मशांति और उतनी आत्मसमाधि प्रगट होती है।

``**किसी भी तथारूप योगको प्राप्त करके जीवको एक क्षण**

भी अंतर्भेदजागृति हो जाये तो उससे मोक्ष विशेष दूर नहीं है।'' इस पत्रके संदर्भमें यह एक वचनामृत बहुत गूढ़ भाषामें है और बहुत महत्त्वपूर्ण विषयका निरूपण करता है। ``**कोई भी तथारुप योग प्राप्त करके....**'' यहाँ पर तथारूप योग मतलब क्या ? इसका विचार करना होगा। हालाँकि नीचे एक `तथारूप योग' का दूसरा शब्दांतर (Other Word) `**आत्मयोग**' लिखा है। `**आत्मयोग**' यह उनकी स्वतंत्र भाषा पद्धति है। शब्द संयोजन भी स्वतंत्र है और भाषा भी स्वतंत्र है। भाव तो बहुत गूढ़ है।

``**तथारूप योगको प्राप्त करके.....**'' तथारूप यानी आत्म-अंतर्भेद जागृति उत्पन्न हो ऐसा योग, ऐसा संयोग। उपादानकी अपेक्षासे जीवकी उत्कृष्ट योग्यता होती है, निमित्तकी अपेक्षासे ज्ञानीपुरुषका - सत्पुरुषका संयोगरूप योग प्राप्त होता है-ऐसे दोनोंका मेल होता है। सुपात्रता वह उपादानका परिणमन है और इस पात्रतामें अंतर्भेद जागृति उत्पन्न हो ऐसा यदि कोई सत्पुरुषका योग हो, तो वह तथारूप योगको प्राप्त हुआ जीव है।

क्योंकि जीव अनंत बार समवसरणमें गया है, वहाँ सजीवन मूर्तिके रूपमें सर्वज्ञ परमात्मा जिनेन्द्र देव हैं। अनन्त बार भावलिंगी मुनिके संयोगको - सत्संगको भी प्राप्त हुआ है। और अनन्त बार ज्ञानीपुरुषके समागमको भी प्राप्त हुआ है। परन्तु यदि खुदकी पात्रता नहीं होती है तो कुछ ग्रहण नहीं हो पाता। वस्तु अमूल्य है, अलौकिक है, अचिंत्य है परन्तु इसको रखनेके लिए पात्र चाहिए। जैसे सिंहनीका दूध सोनेके पात्रमें ही रहता है, अगर मिट्टीका पात्र होगा तो वह फट जाएगा। ऐसा यह जिनेश्वर परमात्माका उपदेश है। वह अगर परिणमित हो जाय तो संसार तिर जाय। जैसे कृपालुदेव लिखते हैं कि अपनी भुजाओंसे स्वयंभूरमण समुद्र तिरना आसान है; लेकिन

संसार समुद्रको-मोह समुद्रको तिरना इतना आसान नहीं है। यानी कि विषय साधारण तो नहीं है, असाधारण विषय है और इतनी गंभीरतामें आकर यदि यह काम हाथमें लिया जाता है तो ही यह काम सफल होना संभव है। कार्यकी इतनी गंभीरता अगर नहीं समझमें आती है तब तक यह कार्य इतनी दरकारसे, इतनी सावधानीसे, इतनी जागृतिसे हाथमें लिया नहीं जाता है और उसका असर नहीं पहुँचता।

यहाँ असर होना इसे अंतर्भेद जागृति कहते हैं। जिसके अंतरका भेद हो। अंतर-भेद मतलब क्या ? जीवको अनंत कालमें स्वभावका संस्कार नहीं है यानी कि विभाव और विकारके ही संस्कार हैं, अथवा अनंत कालसे संसारका ही संस्कार है। संसारसे विरुद्ध ऐसे मोक्षमार्गका संस्कार नहीं है। परिणाम यह आता है कि जो संसार परिणति हुई है वह निरंतर चालू रहती है। जीवको उपयोगका विषय समझमें आता है परन्तु परिणतिका विषय समझना थोड़ा कठिन पड़ता है। क्योंकि उपयोग है वह स्थूल है और परिणति है जो सूक्ष्म है। और इस विषयकी विचारणा, अनुभवज्ञान अथवा इस विषयका अनुभव हो वैसा अवलोकन, Observation नहीं होनेके कारण परिणतिका विषय प्राय: समझमें नहीं आता है। प्रत्येक संसारी जीवको संसारकी एक परिणति है।

दृष्टांत लें तो - `मैं फलाना मनुष्य हूँ' यह एक परिणति है। `मैं आत्मा हूँ' ऐसी जीवके पास परिणति नहीं है। परिणति है इसका मतलब क्या ? कि जिसका स्मरण नहीं करना पड़े, इसका विस्मरण नहीं होता। `मैं मनुष्य हूँ' इसका विस्मरण नहीं होता है और `मैं मनुष्य हूँ' ऐसा स्मरण नहीं करना पड़ता है। क्योंकि जीवको मनुष्य गतिमें मनुष्यके योग्य संस्कारकी एक परिणति चलती रहती है।

कभी किसीको ऐसा विकल्प या विचार आया है क्या कि मैं पशु-पक्षी तो नहीं बन गया हूँ ना ! तो नहीं ऐसा नहीं आता है। मैं देवलोकका देव हूँ, ऐसा भी नहीं आता है। चार गतिमें से जो भी गतिमें खुद विद्यमान है उस गतिकी ही उसको परिणति चलती है। पुरुष हो तो उसकी परिणति उस प्रकारसे चलती है। स्त्री हो तो उसकी परिणति उस प्रकारसे चलती है। परिणतिके योग्य ही सहज-सहज जीवके परिणाम चलते रहते हैं, करने नहीं पड़ते। ऐसी संसारकी परिणति अनेक भावोंसे सुदृढ़ होकर सभी जीवोंकी चल रही है।

अब कोई जीव ऐसे तथारूप योगको पाकर इतनी योग्यतामें आये कि यह परिणति छूटनेकी पूर्व भूमिका आ गई हो, ऐसी सुपात्रता प्रगट हुई हो, और उसे उस भूमिकामें अगर कोई सत्पुरुषका - ज्ञानीपुरुषका योग मिल जाए ऐसी दो बातें एक साथ मिल जाती हैं तो तब उसे `**आत्मजोग**' कहते हैं। आत्मकल्याण हो सके ऐसा योग कहते हैं और ऐसे योगको प्राप्त करके-पा करके, एक क्षण भी यदि अंतर्भेद जागृति उत्पन्न हो, मतलब ऐसा कोई क्षण आये, क्योंकि फिर बादमें तो जागृति चालू ही रहेगी, परन्तु ऐसा कोई एक धन्य पल आये कि जिसमें इसका अंतर्भेद हो जाए। यह (संसार) परिणतिका भेद करके `मै आत्मा हूँ', `मैं चैतन्यस्वरूपी आत्मा हूँ'- ऐसी स्वरूपकी जागृति अगर उत्पन्न हो जाए तो ऐसे जीवको मोक्ष विशेष दूर नहीं है।

फिर कृपालुदेवने यह एक बहुत ही आशास्पद बात मुमुक्षुओंके लिए की है। चाहे कैसे भी करके, चाहे कैसे भी करके मतलब कोई वैसी सुपात्रतामें आकर, अगर कोई ऐसे ज्ञानी पुरुषके योगमें तेरा आना हो, और इसमें तेरा अंतर्भेद होकर तुझे स्वरूपकी -

चैतन्यकी जागृति आ जाए कि ``मैं देहादि स्वरूप नहीं, मैं रागादि स्वरूप नहीं'' परन्तु ``मैं ज्ञानस्वरूपी एक आत्मा हूँ'' ऐसी कोई अंतर्भेद जागृति आ गई तो फिर मोक्ष विशेष दूर नहीं है। फिर मोक्ष समीप है। मोक्ष समीप है ऐसी यहाँ श्री गुरु गारंटी देते हैं। जबकि यह गारंटी लेने जाना नहीं पड़ेगा। ज्ञानीपुरुष यह बात अनेक प्रकारसे कहते हैं। भिन्न-भिन्न ज्ञानी भिन्न-भिन्न प्रकारसे यह बात करते हैं। और फिर खुदको भी अनुभव हो सकता है, क्योंकि खुदको मोक्षका भणकार अन्दरसे आता है। इसको `मोक्षका भणकार' कहते हैं। (यद्यपि) है तो मुमुक्षुकी दशा, परन्तु जिसको अंतर्भेद जागृति आती है उसका मोक्ष विशेष दूर नहीं है, इसकी प्रतीति खुदको होगी कि नहीं होगी ? तो (कहते हैं कि) खुदको होगी कि अब मेरा मोक्ष ज्यादा दूर नहीं है। अन्दरसे उसको मोक्षके भणकारे आने लगते हैं। ऐसी एक दशा होती है और यहाँ कृपालुदेव बहुत गूढ़ भाषामें इन शब्दोंसे कहते हैं कि अंतरभेद जागृति आती है, अंतरभेद होकर जागृति आये तो फिर मोक्ष विशेष दूर नहीं है।

अभी मोक्ष (कितना) दूर है इसका कोई लक्षण है क्या ? किसको मोक्ष दूर है ? सारे प्रश्नोंका समाधान देते जाते हैं कि ``**अन्य परिणाममें जितनी तादात्म्यवृत्ति है, उतना जीवसे मोक्ष दूर है।**'' अब इस तन्मयताका खयाल कब आए ? कि अगर जीवको खुदके परिणामका अवलोकन चलता हो तो खयालमें आए। जो कुछ भी उदयभावरूप अन्य परिणाम हैं, वे आत्मपरिणाम नहीं हैं। आत्मपरिणाम तो आत्माका अवलम्बन लेते हुए, आत्माका अनुसरण करके उत्पन्न होनेवाले परिणाम हैं। जब कि वैसे परिणाम तो आत्मज्ञानपूर्वक ही होते हैं, इसके पहले तो वैसे परिणाम नहीं होते हैं। इसके पहले सभी जीवको अन्य परिणाम उदयभावमें होते हैं और यह उदयभावमें

भी जितनी तादात्म्यवृत्ति है उतना नुकसान है, उतना जीव मोक्षसे विशेष दूर है। दूसरे परिणाम होना और उसमें भी तादात्म्यवृत्तिकी तारतम्यता विशेष या मंद होना उसमें दो प्रकार होते हैं। जो आत्मार्थी जीव है, मुमुक्षु जीव है उसके अन्य परिणाम तीव्र तादात्म्यवृत्तिसे उत्पन्न नहीं होते हैं। उसकी तादात्म्यवृत्ति मंद हो जाती है और इसका कारण है; दर्शनमोहका अनुभाग घटा है और ज्ञानमें आत्मकल्याण कर ही लेनेका विवेक जागृत हुआ है। इस प्रकार जितना विवेक जागृत हुआ है उतनी ज्ञानकी निर्मलता है। वह उस भूमिकाके योग्य ज्ञानकी निर्मलता है। सम्यक्ज्ञानकी निर्मलताकी तो कोई अलग ही जात है। परन्तु इसके पहले भी मुमुक्षुकी भूमिकामें - भूमिका योग्य निर्मलता आती है और इस निर्मलताके अनुसार जब दर्शनमोहका अनुभाग घटता है तब अन्य परिणाममें तन्मयता-तारत्म्यता कम हो जाती है और तन्मयतामें जो रस उत्पन्न होता था, वह रस मंद पड़ जाता है, वह रस फ़ीका पड़ जाता है। जिसको इस भूमिकाका वैराग्य - उपशम कहनेमें आता है। जिसको इस भूमिकाकी यथार्थ उदासीनता कहनेमें आती है। ऐसी उदासीनता अगर आयी नहीं हो तो जीवसे मोक्ष बहुत दूर है ऐसा समझना चाहिए।

इस विषयमें थोड़ी विशेष बात लें तो ऐसी है कि जो सत्शास्त्र हैं, सत्पुरुषके वचन हैं वे समझमें तो आते हैं, बुद्धिगम्य होते हैं फिर भी इसका मूल्यांकन नहीं आता है। यह एक बहुत ही समझने जैसा विषय है कि बुद्धि होनेसे विषय बुद्धिगम्य तो होता है परन्तु इसका अगर मूल्यांकन नहीं होता है तो जीवके परिणामके ऊपर जितना उसका असर होना चाहिए, उतना असर नहीं पहुँचता। जो असर होना चाहिए वह असर नहीं होता है। ऐसा क्यों होता है?

ऐसा किस लिए होता है ? इसका अगर विचार किया जाय तो, दर्शनमोह बलवान होता है तो, समझ ऊपर ही ऊपर रह जाती है। समझ काम नहीं करती है। समझका असर नहीं होता है। ऐसी एक स्थिति खड़ी हो जाती है। जैसे कि एक मृत्युके प्रसंगकी तो बहुत गंभीरता भासित होती है। इतनी गंभीरता भासित होती है कि यदि शरीरका स्वास्थ्य Danger Zone में आया हो, तब डॉक्टर ऐसा कहे कि परिस्थिति ज़रा नाजुक हो गई है तब आकाश-पाताल एक करके भी जीवको मरना नहीं है। इतनी गंभीरता आती है, तो फिर अनन्त जन्म-मरणका कारण ऐसा जो मिथ्यात्व मोह, दर्शनमोह और अज्ञान, इसको मिटानेके लिए इससे भी अनंत गंभीरता आ जानी चाहिए इसके बदले अगर एक मृत्यु जितनी भी गंभीरता नहीं आती हो तो इस विषयके गणितकी समझ भी कितनी भूल भरी हुई है, या इस विषयका मूल्यांकन हुआ ही नहीं ऐसा सहजरूपसे समझमें आये ऐसी बात है।

ऐसे तो यदि पात्रता होती है तो ऐसे महापुरुषके वचन अन्दरमें आरपार उतर जाते हैं। पात्रता हो तो आरपार उतर जाये ऐसा है। फिरभी अनेक वर्षों तक स्वाध्याय करते रहने पर भी जितना असर उत्पन्न होना चाहिए, उतना असर उत्पन्न नहीं हो तो मोह बलवान है ऐसा समझ लेना चाहिए। कृपालुदेव एक पत्रमें लिखते हैं कि सच्चे देव-गुरु-शास्त्र मिले, जैन कुल, वीतराग देव, वीतरागी गुरु, इनके वीतरागी सिद्धांत पढ़नेको मिले, समझनेको मिले, सुननेको मिले, फिर भी अगर जीवका आत्मकल्याण नहीं हुआ, मोक्षमार्गमें नहीं चढ़ा तो ऐसा समझना चाहिए कि महामोहनीयकी बलवत्तरता ज्यादा है। ऐसे शब्द लिये हैं कि मोहनीयका बल बलवान है; यानी कि दर्शनमोह तीव्र है। जब तक भावमें दर्शनमोहका सद्भाव वर्तता

है और इसकी तीव्रता वर्तती है तब तक तो समझका असर पहुँचनेवाला नहीं है। क्योंकि दर्शनमोहकी भी एक परिणति बन चुकी होती है। उसका अगर भेद हो जाय, छेद हो जाय, तो अंतर्भेद जागृति आती है। अंतरको भेदकरके जागृति आए लेकिन अगर ऐसा नहीं हो तो परिणामकी क्या परिस्थिति हो इसे नापनेका कोई मीटर-साधन या कोई स्थान है कि नहीं ? लक्षण है कि नहीं ? स्वरूप है कि नहीं ? तब कहते हैं कि ``**अन्य परिणाममें जितनी तादात्म्यवृत्ति है, उतना जीवसे मोक्ष दूर है। यदि कोई आत्मयोग बने तो इस मनुष्य भवका मूल्य किसी तरहसे नहीं हो सकता।**''

अगर कोई ऐसा आत्मयोग बने; खुद ऐसी कोई सुपात्रतामें आये और किसी सत्पुरुषका योग बन जाए। एक बात तो स्पष्ट है कि सत्पुरुषके प्रत्यक्ष योगके बिना आत्मज्ञान होना तो संभवित है ही नहीं परन्तु बीजज्ञान भी नहीं मिलता है। कृपालुदेवने आत्मसिद्धि शास्त्रकी सत्रहवीं गाथामें एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात की है। इसमें ऐसी बात ली है कि यह एक प्रथम समकित है।

``स्वच्छन्द मत आग्रह तजी, वर्ते सद्गुरु लक्ष;
समकित तेने भाखियुं, कारण गणी प्रत्यक्ष।।''

मतलब कि अपने आप नहीं - खुदका मत छोड़कर अगर सत्पुरुषका अनुसरण करनेकी बुद्धि हो और ऐसा कि इन्हींके मार्ग पर चलना है, जो कि सुबह हमने सौभाग्यभाईको याद करके यह बात ली थी। ऐसा एक निर्धार होता है कि मुझे अपने स्वच्छन्दसे नहीं चलना है।

``स्वच्छन्द मत आग्रह तजी, वर्ते सद्गुरु लक्ष;
समकित तेने भाखियुं, कारण गणी प्रत्यक्ष।।''

तो यह समकित नहीं है परन्तु समकितके कारणका प्रत्यक्ष

कारण है। कारणका कारण। यह एक कृपालुदेवकी स्वतंत्र Research(खोज) है, स्वतंत्र रिसर्च है, हाँ ! यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि जब आत्मज्ञान और समकित दोनों साथमें होते हैं और जब निर्विकल्प स्वानुभव होता है तब ही सम्यग्दर्शन उसी कालमें, समकालमें, एक ही कालमें उत्पन्न होता है, तो इसका अनन्य कारण क्या है ? कि उसका कारण मुमुक्षु दशामें आता है और उसका कारणका कारण भी मुमुक्षु दशामें ही आता है। आत्मसिद्धिमें यह रहस्य भरा है।

आत्मसिद्धि शास्त्रमें हमने तीन प्रकारके समकितका उपदेश किया है। इस तरहसे लिखा है। आत्मसिद्धि पढ़ते - पढ़ते इन (तीन) समकितका ख्याल आया होगा कि नहीं, यह तो एक दूसरी बात है। लेकिन यह तो अच्छा हुआ कि सौभाग्यभाईने पुछवाया और उन्होंने खुलासा किया। हमारा नसीब अच्छा है कि यह बात समझनेको मिली वरना तो खुद अपने आप समझमें आये ऐसा विषय नहीं है। इतनी गूढ़ बात है। इतना रहस्यभूत विषय है। इसके अन्दर बहुत Secret भरा है और बहुत Short Cut लिया है। सम्यग्दर्शन पानेके लिए एकदम सीधा Short cut यही है। सीधा By pass (बायपास) ही लिया है। यहाँ पर तुम फलाना पढ़ना, फलाना ग्रंथ पढ़ना ऐसा कुछ नहीं लिया है। पहला शब्द यह है मात्र ``**आप्तपुरुषके वचनकी प्रतीतिरुप आज्ञाकी अपूर्व रुचिरूप, स्वच्छंदनिरोधतासे आप्तपुरुषकी भक्तिरूप,...**'' तीन पद लिये हैं। ऐसा कब होता है ? कि सत्पुरुषकी पहचान हो तब। जब तक सत्पुरुषकी पहचान नहीं होती है तब तक उनके वचनकी न तो प्रतीति आती है और नाहीं आज्ञाकी रुचि और प्रेम उत्पन्न होते हैं, तब तक भक्ति अगर हो तो भी स्वच्छन्द सहित होती है। स्वच्छन्द निरोधरूप, स्वच्छन्द रहित

(भक्ति) नहीं होती। भक्ति दो प्रकारकी होती हैं। स्वच्छन्द सहित और स्वच्छन्द रहित। इस प्रकारमें जीव आता है तो वह कब आता है ? कि ``**स्वच्छन्द मत आग्रह तजी, वर्ते सद्गुरु लक्ष**'' तब आता है, अरे ! प्रत्यक्ष समकितका कारण है। हमने इसको तो समकित ही कहा है। वहाँ तो इसको समकित ही कहा है। जब कि है तो समकितका कारण। वास्तवमें तो कारणका कारण है। परन्तु यह प्रत्यक्ष कारण है इसलिये सचोट कारण है। एकबार भी अगर सत्पुरुषकी पहचान हो गई, जब कि पहचान भी ऐसी योग्यता में आये तब होती है। ऐसे ही कोई पहचान नहीं होती। तो इस जीवका समकित ही नहीं बल्कि निर्वाणपद निश्चित है। क्योंकि समकित जिसका निश्चित हो उसका निर्वाण तो निश्चित ही हो ना ! सीधी सी बात है।

एक पत्रमें खुदने लिखा है, कि सत्पुरुषकी पहचानका बहुत महत् फल है। इसीलिए उनके पत्रोंमें इस बातका अनेक जगह उन्होंने उल्लेख किया है। अनेक जगह उल्लेखमें कोई-कोई जगह तो आश्चर्यकारक कलम चलाई है। जो कलम चलाई है!! Fantastic काम किया है !! २१३ नम्बर का पत्र लें तो इसमें गज़बकी बातें लिखी हैं। कानका पड़दा फट जाए ऐसी बातें हैं। आत्माको मुख्य नहीं किया, जिनेश्वरदेवको मुख्य नहीं किये हैं, जितने सत्पुरुषको मुख्य किये हैं !! क्या ? फिरसे, वहाँ आत्माको - ज्ञायकस्वरूपको इतना मुख्य नहीं किया जिनेश्वरदेव जो सर्वज्ञ परमात्मा हैं उन्हें भी इतने मुख्य नहीं किये जितने सत्पुरुषको मुख्य किये हैं। परन्तु क्या है ?! कहना क्या चाहते हैं ? कि कुछ तो (जरूर) कहना चाहते हैं। कुछ तो अन्दरमें लाइट (स्फुरणा) होनी चाहिए। प्रकाश होना चाहिए कि कुछ तो जरूर कहना चाहते हैं। क्या कहना

चाहते हैं ? आत्मस्वरूपमें और सत्पुरुषमें भेद ही कहाँ है कि हम उसे अलग करें ? अलग-अलग करनेका प्रश्न ही नहीं है। और अगर कोई अलग करता है तो वह समझा नहीं है - ऐसा कहते हैं। उसे कोई समझ नहीं है। ऐसी एक स्थिति मुमुक्षुकी भूमिकामें उत्कृष्ट मुमुक्षुकी भूमिकामें, उत्पन्न होती है ऐसा वहाँ कहना चाहते हैं। ऐसी दशा नहीं आए तब तक जीव अनेक प्रकारसे बुद्धिका टोपला माथे पर लेकर फिरता है। क्योंकि बुद्धिमें तो सिद्धांत आयेंगे।

एक जगह लिखा है कि चौदह गुणस्थान तो जाननेका विषय है। गुणस्थान तो जाननेका विषय है। एक मुमुक्षुने प्रश्न किया था कि, यहाँ कृपालुदेवने ऐसा लिखा है कि गुणस्थान जाननेका विषय है, इसका मतलब वहाँ कहना क्या चाहते हैं ? कि जाननेका विषय है यानी कि गुणस्थान है वह करणानुयोगका विषय है। गुणस्थान द्रव्यानुयोगमें नहीं आते हैं। चरणानुयोगमें भी नहीं आते हैं, परन्तु करणानुयोगमें आते हैं। तो उसमें करणानुयोगके सिद्धांत अनुसार किस गुणस्थानमें कैसे-कैसे परिणाम होते हैं ? करण माने साधन अथवा इसका गणित कैसे है उसको नापनेका विषय है। मात्र जाननेका विषय है मतलब क्या ? कि जानकर, गौण करनेका विषय है। क्यों ? क्योंकि सत्पुरुष चौथे गुणस्थानमें होते हैं और हम जिनमंदिरमें जिनेश्वरदेवकी प्रतिमा तो तेरहवें गुणस्थानकी रखते हैं। तो इस विषयमें ५२७ नंबरके पत्रमें सौभाग्यभाईको प्रश्न पूछा है कि तेरहवें गुणस्थानमें वर्तते जिनेन्द्र परमात्माकी प्रतिमाकी कोई भक्ति करें या चतुर्थ गुणस्थानमें वर्तते सत्पुरुषकी कोई भक्ति करें तो इन दोनोंकी भक्तिमें किसका फल विशेष है ? यह लिखियेगा। ठीक ! अब यदि गणितका विषय लें तो पहली कक्षावालेको भी एक से तेरह अंक तो आते ही हैं। एक से सौ अंकमें तेरह अंक तो आ ही जाता है ना !

तो चारके बजाए तेरहका अंक ज्यादा है यह कोई समझानेकी जरूरत है क्या ? फिर ऐसा प्रश्न क्यों किया ? इसके पीछे कोई हेतु तो होना चाहिए ना ? ये एक क्रांतिकारी विषय है कि तेरहवें गुणस्थानवाले परोक्ष हैं, जिनकी प्रतिमा रखी है वे प्रत्यक्ष नहीं हैं। जबकि सद्गुरु प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष - परोक्षका अंतर जिनको समझमें नहीं आये उसको आत्मविचार - आत्मकल्याणका विचार भी नहीं आ पाता है। आत्मसिद्धिमें तो ऐसा कहते हैं कि :-

``प्रत्यक्ष सद्गुरु सम नहीं, परोक्ष जिन उपकार;
एवो लक्ष थया विना, उगे न आत्मविचार।।''

उसको आत्माका विचार (भी) नहीं है। कहाँ रख दिया उसको ? कि अगर उसको प्रत्यक्ष - परोक्षका भेद नहीं समझमें आया है तो उसे आत्मकल्याणका विचार भी नहीं पैदा हुआ है और उस कोटिमें, उस कक्षामें वह अभी नहीं आया है। अब करणानुयोगके चौदह गुणस्थान के सिद्धांत बुद्धिगोचर हो तो भी उसका स्थान कौनसा ? कि जान करके गौण रखनेका स्थान है। क्यों ? कि आराधनामें तो सत्पुरुषमें परमेश्वर बुद्धि आनी चाहिए। इसलिए भले ही है तो चौथा गुणस्थान, लेकिन चौथे गुणस्थानमें बिराजमान जो सत्पुरुष हैं उनमें परमेश्वरबुद्धि हुई है तुझे ? ऐसा पूछते हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष है इसलिए। अगर परमेश्वरबुद्धि हुई है तो तुझे तेरहवाँ गुणस्थानवालेका अभी विचार करनेकी जरूरत नहीं है। क्योंकि अभी वे प्रत्यक्ष हो सके ऐसा कोई काल नहीं है, उसको तो २५०० वर्ष निकल गए। उन्होंने (कृ. देवने) कितनी रहस्यभूत बातें की हैं !! इस प्रकारकी बातें जब तक समझमें नहीं आती हैं तब तक बुद्धिमें गणित दूसरी तरह ही काम करता है। इसलिए गुणस्थान तो जाननेका विषय है, ऐसा ले लिया है। आदर करनेके लिए

तो सत्पुरुषका परमेश्वरबुद्धिसे आदर करते हैं। और तब उसको सत्पुरुषके हृदयमें बिराजमान ऐसे परमेश्वरका भी दर्शन होता है। मतलब कि सत्पुरुषका परमेश्वररूपमें दर्शन होता है। इसीलिए परमेश्वरबुद्धि होती है, यह कोई कल्पना नहीं है। यह Exact (बिलकुल ठीक) बात है, क्या ? सत्पुरुषके हृदयमें बिराजमान परम तत्त्व-परमेश्वर तत्त्व, जब सत्पुरुषकी पहचान होती है तब दिखनेमें आता है।

४६७ पत्रमें सत्पुरुषको पहचाननेके लिए एक विलक्षण बात की है; पत्र कुदरती-कम नसीबीसे अधूरा रह गया है, परन्तु इसके अन्दर संकेत पूरा आया है। ४६७ में विलक्षणता की बात ली है। ``**मुमुक्षुजीवको ज्ञानीपुरुष और अज्ञानीपुरुषकी विलक्षणता उनकी अर्थात् ज्ञानी और अज्ञानी पुरुषकी दशा द्वारा समझमें आती है। उस दशाकी विलक्षणता जिस प्रकारसे होती है, वह बताने योग्य है।**'' यहाँसे मूलभूत विषय छेड़ा है, पत्र अधूरा रहा है परन्तु विषय महत्त्वपूर्ण छेड़ा है। तो ``**एक तो मूलदशा और दूसरी उत्तरदशा, ऐसे दो भाग जीवकी दशाके हो सकते हैं।**'' अब ज्ञानीपुरुषकी मूलदशा कैसी ? और उत्तरदशा कैसी ? मूलदशा, तो जो सहजात्मस्वरूपकी परिणति हुई है - वह है। उत्तरदशा बाहरमें औदयिक भावों - संसारके चलते हुए परिणाम हैं। अब पहचान तो मूलदशासे करनी है, विलक्षणता वहाँ है। उत्तरदशामें तो दूसरोंके परिणाम हैं, वैसे ही ज्ञानीके परिणाम और प्रवृत्ति होती है। इसमें तो कुछ पहचानने जैसा है नहीं। वे हसते भी हैं और रोते भी हैं। व्यापार करते हैं और गृहस्थाश्रम भी होता है, तो गृहस्थके योग्य प्रवृत्ति भी होती है अथवा चारों गतिके योग्य ही संयोग-वियोग होते हैं। मूलदशा जो है वह सहज ज्ञानदशा है, वह परमात्मतत्त्वका अवलंबन लेकर तदाकार हुई दशा

है, स्वरूप आकार हुई यह दशा है। मतलब जैसा स्वरूप है ऐसी ही यह दशा है, सदृश दशा है। और उस दशाका विषयभूत जो परमेश्वरतत्त्व है वहाँ तक जब मुमुक्षुजीवकी योग्यताके वशात पहुँचना होता है तब परमेश्वररूप समझमें आते हैं, पहचानमें आते हैं, मान्य होते हैं, स्वीकृत होते हैं और उनका सत्कार होता है। तब जाओ ! इसका तो निबेड़ा (छुटकारा) हो गया ऐसा कहते हैं।

यह प्रत्यक्ष सम्यग्दर्शनका कारण है। ``**कारण गणी प्रत्यक्ष**'' यह प्रत्यक्ष (कारण) है। बीजका बीज है। आमके अन्दर गुठली और गुठलीके अन्दर गोली, इसमेंसे अंकुर फूटेगा। वह बीजका बीज है। जिसको सत्पुरुषकी पहचान हुई उसको दूसरा समकित अर्थात् आत्मस्वरूपकी पहचान और भावभासन (होता है), व्याख्यानसार - १, २२० वाँ अँक, पन्ना ७७४; ``**आज तक आत्माका अस्तित्व भासित नहीं हुआ। आत्माके अस्तित्वका भास होनेसे सम्यक्त्व प्राप्त होता है। अस्तित्व सम्यक्त्वका अंग है।** '' सिर्फ कारण नहीं कहा। कारण शब्द कमज़ोर लगा है। निमित्त शब्द कमज़ोर लगा है। इसलिए `अंगभूत' है ऐसा कहा है। यह दूसरा समकित है। जो स्पष्ट अनुभवांशसे प्रतीतिरूप होता है। यह विषय यहाँ व्याख्यानसार - १, २२० अंकके वचनामृत में है, यह सम्यक्त्वका अंग है। ``**अस्तित्व यदि एक बार भी भासित हो तो वह दृष्टिके सामने रहा करता है, और सामने रहनेसे आत्मा वहाँसे हट नहीं सकता।** '' अस्तित्व भासित होनेसे सम्यक्त्व प्राप्त होता है यह ऊपरकी पहली पंक्तिमें लिखा है कि अस्तित्व भासित होनेसे तो सम्यक्त्व प्राप्त होता है। मतलब सम्यक्त्व प्राप्त होनेके पहले अस्तित्व भासित होता है। यह दूसरा समकित है और यह अनुभव अंशसे अर्थात् वेदन अंशसे अस्तित्व ग्रहण होता है और भासित होता है, स्पष्ट भासित

होता है। ऐसा स्पष्ट शब्द वहाँ लिया है कि विश्वास आ जाय कि `मैं ऐसा हूँ'। पहला समकित, दूसरे समकितका कारण है। दूसरा समकित, तीसरे समकितका कारण है। वीतरागोंकी कही हुई बात है, ऐसा नीचे (७५१ पत्रमें) लिया है। इसलिए इसका स्वीकार करना, (इतना ही नहीं परन्तु) स्वीकार करने योग्य है, सत्कार करने योग्य है और भक्ति करने योग्य है। ऐसी ७५१में नीचे बात ली है।

इस तरह अगर कोई `**आत्मयोग**' बने मतलब सत्पुरुषका कोई ऐसा योग बने तो इस मनुष्यपनेका मूल्य किसी तरह न हो सके ऐसा है। There is no Terminology. इसका मूल्य करनेके लिए जगतमें कोई Term नहीं है कि जिस Term में इसको गिनतीमें ले सके कि इतना मूल्य इसका हुआ। किसी तरह नहीं हो सकता। ऐसी एक बहुत दुर्लभसे दुर्लभ यह मनुष्य पर्याय है, कि जिसमें आत्मयोग सुलभ है। बाकी की तीन गतियोंमें `**आत्मयोग**' बहुत दुर्लभ है। तिर्यंचोंको तो कौन सत्पुरुष मिले ? यहाँ पैसेवालोंको लफड़े इतने हैं कि उनको आत्माके विचार करनेका भी अवकाश नहीं है, तो देवलोकमें तो इससे भी ज्यादा (उपाधि) है क्योंकि, वहाँ तो इससे भी ज्यादा श्रीमंताई है। यहाँ पर अगर श्रीमंत लोगों को पूछो - टाटा, बिरला, किसीको, या कोई अरबपतिको पूछो तो उन लोगोंके पास आत्माका विचार करनेका अवकाश ही नहीं है। इतना जंजाल है। देवलोकमें तो इससे भी ज्यादा जंजाल खड़ा हो जाता है। नरकमें तो बहुत ही खराब परिस्थिति है। जब कि एक मनुष्य गति ऐसी है कि जहाँ मध्यम कोटिके परिणाम हैं। मनुष्य गतिमें तीव्र रागमें भी जीव नहीं खिँचता या तीव्र द्वेषमें भी नहीं खिँचता है कि जैसे (राग-द्वेष) देवलोकमें और नरकमें होते हैं। तिर्यंचमें

ज्ञान और विचारशक्ति कुंठित हो जाती है और विचारशक्ति थोड़ी बहुत होती भी है तो भी वे बोल नहीं सकते। अकुलाहट हो तो भी पूछे किसको ? यहाँ तो विचारशक्ति, विवेकशक्ति, बोलनेकी शक्ति सहित है और ज्ञानीपुरुषका योग भी सुलभ है। मतलब ``**यदि कोई आत्मयोग बने तो इस मनुष्य भवका मूल्य किसी तरहसे नहीं हो सकता।**'' और नहीं तो इस मनुष्यपनेकी, फूटी कौड़ी जितनी भी इसकी क़ीमत नहीं हुई वैसे आयुष्य पूरा हो जाता है और जीव दुर्गतिमें चला जाता है। प्राय: दुर्गतिमें ही चला जाता है।

``**प्राय: मनुष्यदेहके बिना आत्मयोग नहीं बनता ऐसा जानकर, अत्यन्त निश्चय करके इसी देहमें आत्मयोग उत्पन्न करना योग्य है।**'' ऐसी पात्रता उत्पन्न करनी चाहिए कि जिससे सत्पुरुषका योग हो। यह एक कुदरती नियम है अथवा कुदरत इसके साथ बंधी हुई है कि जिस जीवको उत्कृष्ट पात्रता आती है उसको कुदरत सत्पुरुषका योग करवा ही देती है। इस प्रकारसे कुदरत इसके साथ बंधी हुई है। उसको सहजरूपसे ही चाहे कहींसे भी सत्पुरुष मिलते हैं, मिलते हैं और मिलते ही हैं। उसको वैसा योग उत्पन्न करना चाहिए। इतना अगर लक्ष्यमें आये तो खुदकी पात्रताके ऊपर विशेष लक्ष्य जाए और जीव पात्रताको बढ़ाकर प्रथम समकितको पाए तो दूसरा पाए, और तब जाके तीसरेको अवश्य प्राप्त होवे, होवे और होवे ही। सीधा रास्ता है - कहीं भी इधर-उधर जानेकी ज़रूरत नहीं है। इस कहे हुए - बताये हुए मार्ग पर जीव अगर चले तो उसका छुटकारा हो जाए ऐसी बात है। विशेष बादमें लेंगे।

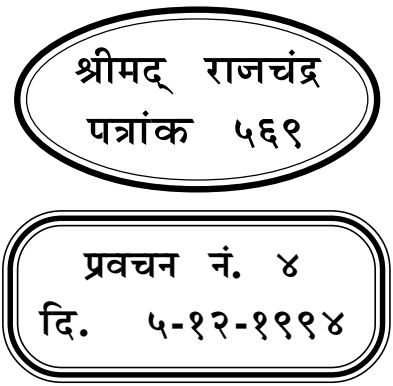

श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत पत्रांक ५६९ चल रहा है। कलके स्वाध्यायमें मुमुक्षु जीवको उत्साहित करे, अन्दरसे प्रेरणा जगे ऐसी एक सुन्दर बात वचनामृतमें आई, कि जीव अगर खुद योग्यता प्राप्त करे कि जिसे यहाँ `**आत्मयोग**' कहा है। आत्मकल्याण हो जाए ऐसा योग उत्पन्न हो तो मोक्ष विशेष दूर नहीं है। इसका मतलब कि आत्मामें से मोक्षका भणकार आएगा कि `अब मेरा आत्मा संसारमें परिभ्रमण नहीं करेगा, अवश्य-अवश्य मेरी मुक्ति हो जायेगी' ऐसी अन्दरसे नेपथ्यमेंसे आवाज़ आती है। वैसा आत्मयोग इस मनुष्य पर्यायमें अवश्य-अवश्य उत्पन्न होना चाहिए। अर्थात् संसारके सभी कार्योंका, सभी प्रसंगोंका, सभी वस्तुओंका मूल्य गौण करके यदि एक आत्मकल्याणको ही मुख्य करेनेमें आये तो अथवा ऐसा अभिप्राय बन जाये कि अनंत कालमें दुर्लभ ऐसा मनुष्य भव प्राप्त हुआ है तो अब आत्मकल्याण कर ही लेना है। इसीलिए यह मेरा मनुष्य

भव है। संसारके कार्य और संसारके भोग-उपभोगके लिए यह मनुष्य भव नहीं मिला है बल्कि यह भव छूटनेके लिए मिला है। ऐसा अगर अभिप्राय हो जाए तो अवश्य आत्मयोग उत्पन्न हो जाय और निर्वाण पद का साधन यहाँसे शुरू हो जाय। यह आत्मयोग तुरंत प्रगटे - ऐसा आत्मयोग तुरंत प्रगट हो इसके लिए आगे विशेष कहते हैं।

``**विचारकी निर्मलतासे यदि यह जीव अन्यपरिचयसे पीछे हटे तो सहजमें अभी ही उसे आत्मयोग प्रगट हो जाये।**'' विचारकी निर्मलतासे मतलब शुद्ध अंत:करणसे। आत्मकल्याण करनेके लिए शुद्ध अंत:करण होना चाहिए। अथवा प्रमाणिकरूपसे आत्मकल्याण करके छूटना ही है ऐसी जो भावना है वह विचारमें अर्थात् ज्ञानमें निर्मलताको उत्पन्न करती है। मुमुक्षुके योग्य ऐसी, मुमुक्षुके योग्य निर्मलता वहाँ उत्पन्न होती है। विशुद्धिकी प्राप्ति होती है। और इसके साथ, ऐसी स्थितिमें, ऐसी योग्यतामें आकर जो कुछ भी उदयमान प्रसंग और संयोग है, उसमें रस लेनेसे पीछे हटता है।

अन्य परिचय मतलब क्या ? जैसे-जैसे पुद्गल संयोगोंका - भौतिक पदार्थोंका रस लेनेमें आता है वैसे-वैसे इस जीवके परिणाममें मलिनता बढ़ती जाती है। यहाँ पर अन्य यानी कि दूसरे पदार्थ, उनका परिचय अर्थात् रस लेना, उससे पीछे हटना माने नीरस होना। शुद्ध अंत:करणसे, इस प्रकारसे अर्थात् आत्मकल्याणकी शुद्ध भावनासे, अगर जीव अन्य पदार्थोंमें रस लेना बंद करे, अन्य पदार्थोंकी अपेक्षाओं-सुखबुद्धिके कारण और आधारबुद्धिके कारण जो वर्तती है; इसका भिन्नत्व, पर पदार्थका भिन्नत्व, पर पदार्थका अन्यत्व, पर पदार्थके अशरणत्वको समझकर वे पदार्थ सुखके कारण भी नहीं और वे पदार्थ इस जीवको आधारभूत भी नहीं हैं, ये दोनों बातें यथार्थ

प्रकारसे समझमें आये और इसमें रस लेना जीव बंद करे, उसमें नीरसता आये, सहज उदासीनता उत्पन्न हो तो अभी अर्थात् अभी ही और सहज मात्रमें ही, सहज मात्रमें ही अर्थात् कर्तृत्व परिणामसे नहीं कि ऐसा परिणाम मैं करुँ, ऐसे करुँ-करुँके परिणामपूर्वक नहीं, परन्तु सहज मात्रमें वह दशा उत्पन्न होवे, अभी ही आत्मयोग प्रगट होवे और यह आत्मयोग प्रगट हो तो अंतर्भेद जागृति आती है, अंतर्भेद होनेसे जो विपरीत मिथ्या अभिप्राय, श्रद्धा अनादिसे जीवकी चली आ रही है, जिस गाढ़ प्रगाढ़ अज्ञानसे जीव परिभ्रमण कर रहा है, इसमें एकदम पतलापन आ जाए। इसका अनुभाग इतना मंद हो जाए, इसकी विपरीतताका रस इतना मंद हो जाए कि जीव मोक्षमार्गके समीप आ जाए, मोक्षमार्गके सन्मुख हो जाए और मेरा मोक्ष होगा ही ऐसी उसको प्रतीति भी आ जाए।

``**असत्संग-प्रसंगका घिराव विशेष है,...**'' असत्प्रसंगका घिराव बहुत है। एकके बाद एक उदय चले ही आ रहे हैं, ये सभी असत्प्रसंग हैं। असत् इसलिए कहते हैं, क्योंकि आत्माकी सत्तामें जो नहीं हैं वे सभी असत् हैं। आत्मा खुद सत् स्वरूप है, इसलिए सच्चिदानंद स्वरूप कहलाता है। खुद सत् है। तीनों कालमें सत् है और खुदकी अपेक्षासे सभी बाहरके प्रसंग असत् हैं। इनका घिराव विशेष है, ऐसा एक भी क्षण नहीं, विग्रह गतिको छोड़कर, कि जब आठों कर्मोंका उदय संसारी जीवको न हो। एक विग्रह गति मतलब कि मानो यहाँ कोई जीव आयुष्य पूरा करके और दूसरा आयुष्य शुरू करे, इसके पहले बीचमें एक समय, दो समय या ज्यादासे ज्यादा तीन समय तक आयुष्यकर्मका उदय उसको नहीं होता है। (परंतु) वहाँ भी सात कर्मोंका उदय तो होता है। बाकी सभी संसारी जीवोंको निरंतर आठों कर्मोंका उदय होता है। और

इन कर्मोंके उदयसे यह जीव घिरा हुआ है। भले ही आठों कर्मोंके उदयसे घिरा है फिर भी इस घिरावमेंसे छूटनेका उपाय भी है, उलझनमें आनेकी ज़रूरत नहीं है।

यह तो परिस्थिति कैसी है कि ``**असत्संग - प्रसंगका घिराव विशेष है, और यह जीव उससे अनादिकालका हीनसत्त्व हुआ होनेसे उससे अवकाश प्राप्त करनेके लिये अथवा उसकी निवृत्ति करनेके लिये यथासंभव सत्संगका आश्रय करे तो किसी तरह पुरुषार्थयोग्य होकर विचारदशाको प्राप्त करे**'' बहुत सुन्दर मार्गदर्शन है। आठों कर्मका घिराव विशेष है। इस घिरावका अनुसरण करके इसका अवलम्बन लेकर यह जीव हीनसत्त्व हुआ है। हीनसत्त्व हो गया है अर्थात् परिणाममें कमज़ोर हो गया है। अन्दरमें वस्तु अनन्त शक्ति से समृद्ध है। मूल वस्तु-सहजात्मस्वरूप है, वह तो अनन्त शक्ति संपन्न त्रिकाल ध्रुव, वैसाका वैसा रहनेवाला परमतत्त्व है। इसमें तो किसी भी कालमें, चाहे निगोदमें अनन्त काल तक रहें तो भी शुद्ध चैतन्य धातुमें कोई फेरफार नहीं होता है। परन्तु अवस्थामें कमज़ोरी आ गई है। खुदका ही आत्मकल्याण करना हो फिर भी मेरेमें बल नहीं है ऐसा लगता है। जीवको ऐसा अनुभव होता है, ``अरे मुझे मेरा ही आत्मकल्याण करना है तो भी मेरे पास बल नहीं, बार-बार मैं संयोगोंके आगे हार जाता हूँ'' ऐसा जीव अनुभव करता है इसका कारण यह है कि खुद अनादिकालसे हीनसत्त्व हो गया है। ऐसी दशा आजकलसे नहीं है, अनादिकालसे परिणाममें इतनी कमज़ोरी आ गई है। इस कमज़ोरीमेंसे बाहर निकलना है। परिस्थिति अवश्य कमज़ोर है। फिर भी इसमेंसे रास्ता निकले ऐसा उपाय भी कृपालुदेवने यहाँ बराबर दिखाया है।

यह जीव अनादिकालसे हीनसत्त्व हुआ है इसलिए उससे अवकाश

प्राप्त करनेके लिए मतलब कमज़ोरी कम हो इसलिए, अवकाश होना मतलब इसमें कमज़ोरीकी जगह कुछ मज़बूती आये, ऐसा होनेके लिए अथवा इस हीनसत्त्वपनेका नाश करनेके लिए इसका अभाव करनेके लिए जितना बन सके उतना सत्संगके आश्रयमें रहना चाहिए तो किसी भी तरह पुरुषार्थके योग्य होकर विचार दशाको प्राप्त हो सके। खुदकी वर्तमान स्थितिको बराबर समझे, समझे मतलब अनुभवसे समझे और इसका उपाय-एक परम साधन है, वह सत्संगके आश्रयमें रहना वही है। यहाँ भी फिरसे-आश्रय शब्द इस्तेमाल किया है। ऊपर भी यही कहा था कि सत्संगके आश्रयसे असत्संगका बल घटता है। अथवा अगर असत्संगसे उत्पन्न हुई कमज़ोरी कम करनी हो, मिटानी हो तो सत्संगका आश्रय करना। आश्रयभावनासे सत्संगमें जाना दूसरे प्रकारकी भावनासे नहीं। वैसी आश्रयभावनासे सत्संगमें जाना कि यह एक मेरे आत्मकल्याणका उत्कृष्ट साधन है। कृपालुदेव एक दूसरी जगह लिखते हैं कि सत्संग जैसा आत्मकल्याणकारी साधन हमने दूसरा जाना नहीं, देखा नहीं अर्थात् अनुभव नहीं किया। ऐसे खुदके अनुभवकी इसमें पुकार है। ``**यथासंभव**'' मतलब हो सके उतना सत्संगका आश्रय करें तो किसी तरह पुरुषार्थ योग्य होता है। कमज़ोरी घटकर ताकत आती है और आत्मकल्याणकी दशाको प्राप्त करता है अथवा आत्मकल्याण प्राप्त करता है।

विचार मतलब आत्मकल्याणका विचार। ऊपर लिखा है ``**विचार बिना आत्मज्ञान होता नहीं।**'' यह आत्मकल्याण सम्बन्धित विचार है। और विचारको यहाँ निर्धार भी कह सकते हैं कि इस भवमें आत्मकल्याण कर ही लेना है, ऐसा अवश्य-अवश्य करना ही है, आयुष्य छूटे इसके पहले चाहे जैसी परिस्थितिमें, किसी भी कीमत पर, मेरा आत्मकल्याण सधता हो तो कुछ भी कीमत चुकानेको

मैं तैयार हूँ। इतनी अभिप्रायकी तैयारी जब तक न हो तब तक इस दिशामें बिलकुल विकास नहीं होता, प्रगति नहीं होती है। इसीलिए (अर्थात्) यह आत्मविचार उत्पन्न होनेके लिए, एक-एक बातको कितनी क्रमसे लेते हैं। ऐसा करना है, तो यह कैसे हो ? इसका उत्तर देते हैं कि ऐसा करना है तो वह कैसे हो ? इसका उत्तर देते हैं, जैसे यदि बीच-बीचमें प्रश्न उठाया जाए कि आत्मविचार कैसे हो ? आत्मविचार करनेके लिए क्या होना चाहिए ? क्या करना चाहिए ? कि ऐसे-ऐसे करना चाहिए।

``**जिस प्रकारसे इस संसारकी अनित्यता, असारता अत्यंतरूपसे भासित हो उस प्रकारसे आत्मविचार उत्पन्न होता है।**'' किस प्रकारसे आत्मकल्याणका विचार उत्पन्न होवे ? कि इस संसारके सभी प्रसंग अनित्य हैं। अभी तो बहुत अल्प आयुष्य होता है, वर्तमानकालमें तो आयुष्य घटता ही जाता है और आगे घटता ही जायगा। चौथे आरेके प्रारंभमें बहुत बड़ा आयुष्य होता था, पूर्वका आयुष्य (होता था)। ऋषभदेव भगवानकी चौरासी लाख पूर्वकी आयु थी। आदिनाथ भगवान - प्रथम तीर्थंकरकी मनुष्य आयु चौरासी लाख पूर्व की थी। इस चौथे आरेके अंतमें, उतरता काल है तो भगवान महावीर स्वामीका आयुष्य मात्र बहत्तर वर्ष का था। अभी तो फिर भी लोगोंका बहत्तरसे ज्यादा आयुष्य देखनेको मिलता है। यह उतरता काल है। आयुष्य छोटा होता जाएगा, और भी आयुष्य घटता जाएगा। बीचमें कोई कालमें लगता है कि एवरेज सुधरता है, परन्तु यह मामूली है। और यदि बहुत बड़ा आयुष्य हो तो भी कालके सिन्धुके आगे, कालके समुद्रके आगे एक बूँद जितना है। कहावत है कि `चार दिनकी चाँदनी' है। परन्तु असलमें तो चार दिनकी भी चाँदनी नहीं है। कालकी अपेक्षासे तो यह आयुष्यके चार दिन भी नहीं हैं और वे

भी अनिश्चित हैं, निश्चित नहीं हैं। इतना आयुष्य भोगकर ही जीवको मृत्यु होगी ऐसा कोई निश्चित नहीं है। पानी का बुलबुला कभी भी फूट सकता है।

ऐसा संसारका अनित्यपना अगर समझनेमें आएगा तो इसमें नीरसपना आए बिना रहेगा नहीं। मुसाफिर है (वह) चाहे जितनी अच्छी होटल हो, परन्तु इसमें कितने दिन रहता है ? एक दिन, दो दिन, पाँच दिन कमसे कम रुकना पड़े इतना रुकता है, इसमें इसको ममत्व नहीं होता, अपनापना नहीं हो जाता; क्योंकि उसको यह खयाल है कि यहाँ बहुत कम समय रुकना है। ऐसे ही वर्तमान भव बहुत ही कम समयका है, अल्प समयका है, आयुष्य तो बहुत अनित्य है। इसमें आत्मकल्याणके सिवाय दूसरे कार्योंमें रस लेने जैसा नहीं है, ऐसा सहजरूपसे भासित होना चाहिए। असारपना (अर्थात्) जो कोई संयोग है उसमें सार नहीं है। सार नहीं है मतलब सुखका कोई कारण उसमें नहीं है। जहाँ-जहाँ इस जीवको सुख लगता है वहाँ-वहाँ भ्रांतिगतरूपसे लगता है। वास्तविकरूपसे इसमें कोई (सुख) नहीं है। और इसे अगर देखे तो तुरंत ही समझमें आये ऐसा है। इतनी जागृति होनी ज़रूरी है कि जब यह सुखाभास वर्तता हो तभी जागृति आकर तपास होनी चाहिए। यदि पीछेसे विचार आए तो वह इतना कार्यसाधक नहीं है।

यह एक समस्या है कि क्या करें ? बात तो बराबर लगती है समझमें आती है और सच्ची भी लगती है परन्तु सच्ची लगने पर भी इसका कोई फल प्राप्त होता नहीं है, यह एक समस्या है। ऐसा क्यों है ? कि (बात) समझमें आती है, सच्ची लगती है; परन्तु उसके अनुसार परिणमन नहीं होता है ? (समाधान ऐसा है कि) दर्शनमोहका अनुभाग तीव्ररूपसे वर्त रहा है। भावमें दर्शनमोह

है वह तीव्र है। वह समझको, समझे हुए ज्ञानको निष्फल करता है। दर्शनमोहका इतना ज्यादा प्रभाव ज्ञानके और समझके ऊपर आता है। मतलब आत्मकल्याणकी तीव्र भावना बढ़ाकर इस दर्शनमोहको गालना होगा। जब दर्शनमोह गलता है तभी समझमें, विचारमें विचारबल आता है। वरना विचार तो आता है परन्तु विचारबल नहीं आता है। विचार आता है फिर भी विचारबल नहीं आता। यह परिस्थिति रहती है और वह अत्यंत दु:खदायक है।

``**इस संसारकी (अनित्यता), असारता अत्यंतरूपसे भासित हो....**'' ऊपर-ऊपरसे भासित हो (ऐसा) नहीं परन्तु अत्यंतरूपसे भासित हो, तो ``**उस प्रकारसे आत्मविचार (उत्पन्न होता है)**।'' मतलब आत्मकल्याणका यथार्थ विचार उत्पन्न होता है। दोनों पहलू एक दूसरेके सम्बन्धमें हैं, Relative हैं कि एक तरफ संसारका अत्यंत असारपना भासित हो तो दूसरी तरफ आत्मकल्याणका विचार आता है। एक Negative Side है, दूसरी इसकी Positive Side है। और दोनों एक साथ Simultaneously काम करती है, एकके बाद एक काम करती है ऐसा नहीं है। ऐसा होगा तो तुरंत ऐसा होगा।

``**अब इस उपाधिकार्यसे छूटनेकी विशेष-विशेष आर्त्ति हुआ करती है,...**'' आर्त्ति शब्द इस्तेमाल किया है। आर्तध्यानमें आर्त शब्द है इसकी क्रियाको आर्त्ति कहा है। हम वह आरती जो कहते हैं वह नहीं, उसमें तो `र' पूरा है। `आर्त्ति' है इसमें `र' आधा है। कृपालुदेव अब खुदकी बात करते हैं। अंगत बात करते हैं। कई पत्रोंमें उन्होंने खुदकी अंगत दशाको निखालसतासे, अत्यंत सरलतासे खुलेआम लिखी है। जब कहनेमें भी हिचकिचाहट होती हो तो लिखनेमें तो विशेष हिचकिचाहट होवे, फिर भी सरलता विशेष हो तो कहनेमें और लिखनेमें आ सकता है। अब खुदकी अंगत बात

करते हैं, कि अब इस उपाधिकार्यसे, २८ वें वर्षका यह पत्र है, २८ वें वर्षको भरी जवानी कही जाती है, कैसी ? एकदम भरयुवान। उपाधिकार्य मतलब जो व्यवसाय है, व्यापारमें पड़े हुए हैं, उसमेंसे छूटनेकी, निवृत्त होनेकी विशेष-विशेष, तीव्ररूपसे छूटनेकी वृत्ति होती है, उसे आर्त्त परिणाम अथवा आर्त्त परिणामकी क्रियाको आर्त्ति कहते हैं। यह चालू क्रियाको बतानेवाली परिस्थिति, शाब्दिक पद्धति है। परिणामकी क्रिया चालू हो उसे `परिणति' कहते हैं। ज्ञानकी क्रिया चालू हो उसे `ज्ञप्ति' कहते हैं। आर्त्तपनेके परिणामकी क्रिया चालू हो उसे `आर्त्ति' कहते हैं। भाषाके अन्दर यह पीछे ईकरांत `ती' लगानेकी पद्धति है। आप तो भाषाज्ञानके विशारद हो इसलिए यह विषय आसानीसे समझमें आयेगा।

अब इस उपाधिकार्यसे जल्दी-जल्दी हम छूट सके ऐसा विशेष-विशेष परिणाममें ज़ोर आया करता है। जब कि अभी बहुत लोग तो २५-२६ साल की उम्रमें तो Commercial Life में प्रवेश करते हैं और अत्यंत महत्त्वाकांक्षासे (प्रवेश करते हैं) कि अभी २५-३०-४० वर्ष अच्छी तरह धंधा कर लें कि जिससे पीछे सारी ज़िन्दगी तकलीफ नहीं हो। अथवा एक-दो पीढ़ीके लिए आराम हो जाए। मेरा तो फिर जो होगा सो होगा। खुदकी दरकार छोड़कर जीव ऐसा समझता है कि इतने वर्ष आर्थिक कार्य कर लेनेके दिन हैं, मौका है फिर तो शरीर काम करे या नहीं करे, आयुष्य हो या नहीं हो, ऐसा समझकर वर्तमान संयोगकी अनुकूलताओंके पीछे जीव कीमती समयको बरबाद करता है। जो हलुकर्मी जीव है उस जीवको दूसरे विचार आते हैं कि `जो कुछ मेरे पास समय है (वह आत्मकल्याणके लिए है)।' कृपालुदेव तो लिखते हैं मनुष्य आयुका एक क्षण, चक्रवर्तीकी संपत्तिसे भी विशेष मूल्यवान है। क्योंकि इसमें

सिद्धपदका, खुदके निज सिद्धपदको गढ़नेका, खुदके निज सिद्धपदकी मूर्तिको बनानी हो तो गढ़नेका काम जीव कर सकता है। खुदकी परमात्मपदकी मूर्ति गढ़नी हो तो एक-एक पल काममें आये ऐसा है। इसलिए इतनी उम्रमें भी उन्हें व्यवसाय छोड़नेकी तीव्र वृत्ति हुआ करती है। तीव्र वृत्ति रहती है। `करता हूँ' ऐसे कर्तृत्व भावसे नहीं बल्कि सहज ही हुआ करती है। हुआ करती है इसमें सहजता आती है, देखो ! जिस आत्माको आत्मकल्याणका ध्येय है, जिस आत्माको आत्मकल्याण कर लेनेका ध्येय है उसे प्रारब्धके योगसे आत्मकल्याण के सिवाय दूसरा करना पड़े, वह कठिन लगता है। कहते हैं कि भले ही कठिन लगे, अभी कठिन लगेगा परन्तु (आत्मकल्याणका) प्रयत्न छोड़ना योग्य नहीं है। यह कठिनाई आसान हो जाएगी। आगे फिर कठिनाई है वह आसान हो जाएगी।

यह कृपालुदेवने ही ऐसा वचन इस्तेमाल किया है हाँ ! एक जगह बहुत अच्छी बात की है। १५७ वाँ अंक है। इसमें एक डायरीके कुछ एक पन्ने यहाँ संकलित हुए हैं। पन्ना है - २३८ इसमें १३ नंबरका अंक है। १५७/१३-

``**धर्मसम्बन्धी अधिक बातचीत इस कालमें गृहस्थावस्थामें न हो तो अच्छा।**'' ऐसा खुद लिखते हैं। ``**भले तुझे विषम लगे, परन्तु इसी क्रममें प्रवृत्ति कर।**'' देखो ! क्रमके ऊपर यहाँ वज़न है। अपनी दो दिनसे चर्चा चल रही है कि क्रमका अनुसरण करना। इसी क्रममें प्रवृत्ति कर। ``**दु:खको सहन करके, क्रमकी रक्षाके परिषहको सहन करके, अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गको सहन करके तू अचल रह।**'' प्रतिकूलताको तो उपसर्ग कहते हैं, परन्तु अनुकूलताको भी यहाँ उपसर्ग कहा है। कितनी गहराई है ! बातके अन्दर गहराई कितनी है !! अनुकूलतामें जीव फँसता है। जब-जब अनुकूलता

बढ़ती है तब जीवका संसार रस विशेष तीव्र होता है। और वही उसे आत्मकल्याण करनेमें बड़ा परिषह है। यह अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गको सहन करके तू अचल रह।

``**अब इस उपाधिकार्यसे छूटनेकी विशेष-विशेष आर्त्ति हुआ करती है,...**'' २८ वर्षकी उम्रमें (ज्ञानदशा) बहुत प्रबल है। अरे ! २४ वे वर्षमें जिनकी ऐसी दशा थी उनकी २८ वे वर्षमें कैसी दशा होगी ? २४ वे वर्षमें ऐसा लिखते हैं, २५५ अंकमें, कि ये शरीर जो पासमें-पड़ोसमें है, आत्माके पासमें-पड़ोसमें शरीर है यह बहुत मुश्किलसे याद करे तब याद आता है। भूल जाते हैं कि हम शरीरधारी हैं। हम तो आत्मा हैं। अशरीरी पदार्थ हैं हमारा आत्मा शरीर बिनाका, देह बिनाका पदार्थ है। इस आत्मामें आत्मरमणता इतनी है, आत्मामें आत्माकी तन्मयता इतनी है कि शरीर है कि नहीं यह भूल जाते हैं। और इस शरीरको याद करनेमें मुश्किलसे याद कर पाते हैं कि यह शरीर का संयोग है। ऐसी २४ वें वर्षमें जिनकी दशा है, उनकी २८ वें वर्षमें कितनी (गाढ़) दशा होगी !! तो भी, एक न्यायसे ऐसी प्रगाढ़ आत्मदशा होने पर भी प्रवृत्तिमें ``**छूटे बिना जो कुछ भी काल बीतता है, वह इस जीवकी शिथिलता ही है,...**'' ऐसा लिखते हैं, ठीक! मैं ऐसा लिखूँगा तो कोई मेरे पुरुषार्थ पर शंका करेगा तो ?! मेरी Impression कैसी पड़ेगी, (किसीकी) चिन्ता नहीं करते हैं। जिसको जैसा लगना हो सो लगे। हम तो पूर्ण शुद्धि, पूर्ण साध्यकी प्राप्तिके लिए निकले हैं, अधूरापना हमें पोसाता नहीं। हमारा स्वरूप, मूल स्वरूप, सहज स्वरूप परिपूर्ण है। पूर्ण शुद्ध है। ऐसे स्वरूपके विषयमें हमारी दशा अधूरी शुद्ध हो वह हमें ज़रा भी चल जाये या पोसाए ऐसा नहीं चल सकता, ऐसा कहते हैं। कि नहीं चल सकता हमारा यह

कहना है। कितना ज़ोर है !!

जैसे किसी आदमीका कोई हक़ हो, कोई उसका हक़ छीन लें तो क्या करेगा? मैं अपनी मरज़ीसे चाहे जितनी छूट दे दूँ परन्तु तुम मेरा हक़ छीनना चाहोगे तो पाई भर भी मैं ढीला छोड़नेवाला नहीं हूँ। वैसे ही यह आत्मा परिपूर्ण शुद्ध है। इसकी अवस्थामें पूर्ण शुद्धि होना यही उसका हक़ है, उसका अधिकार है, उस अधिकारमें कुछ भी कमी हो तो उसे बिलकुल सहन करनेको या बर्दाश्त करनेको तैयार नहीं है। ऐसा कहना है। इस व्यवसायमें हमारा मनुष्य आयुका समय चला जा रहा है, क्यों जाता है ? शिथिलपना हो तो ही जाय। इतना शिथिलपना भी हमको नहीं पोसाता है। ``**ऐसा लगता है; अथवा ऐसा निश्चय रहता है।**'' यहाँ पर मुमुक्षुको जैसा शिथिलपना आता है वैसी भूमिका नहीं लेनी है। वैसा प्रकार यहाँ नहीं लेना है। उनकी उत्कृष्ट दशामें उनको व्यवसायसे छूटनेमें थोड़ी भी देर हो रही है वह पोसाता नहीं है, इतना खुदका शिथिलपना खुद बताते हैं। उस दशाको नापना, या उस दशाको समझनेके लिए बहुत योग्यता चाहिए। नहीं तो खुदके नापसे, खुदकी शिथिलताके साथ मिलान कर लें, तो गज़बका बड़ा अपराध हो जाए। बहुत बड़ा अपराध हो जाए। (कृपालुदेवने) कई बार अपनी दशा लिखी है। उत्कृष्टता भी लिखी है, इसमें जो कुछ अधूराश है उसे भी नि:संकोच लिखा है।

``**जनकादि उपाधिमें रहते हुए भी आत्मस्वभावमें रहते थे, ऐसे आलम्बनके प्रति कभी भी बुद्धि नहीं जाती।**'' देखो जनकादि महाज्ञानी हुए। जनक विदेही कहलाए। रामचन्द्रजीके ससुर थे, सीताजीके पिताश्री थे। वे ज्ञानी थे, महाज्ञानी थे। राजपाट वग़ैरह अनेक प्रकारका जंजाल होते हुए भी वे ऐसी उदासीन दशामें रह सकते थे कि

वे प्रसिद्धरूपसे ऐसे कहलाते थे कि जनकविदेही। कैसे ? देह होते हुए भी देह बिनाके विदेही कहलाए। ऐसी आत्मदशा उनकी गृहस्थाश्रममें थी। तो हम भी गृहस्थी हैं, तो जनकविदेहीकी तरह रहेंगे ऐसा आलम्बन हम कभी लेना नहीं चाहते। वह हमारे अभिप्रायसे विरुद्ध है। बुद्धि नहीं जाती, बुद्धिका अर्थ यहाँ अभिप्राय होता है। ऐसी बुद्धि हमको नहीं होती है कि हम ऐसा आलम्बन लें। जैसे दूसरे ज्ञानी गृहवासमें रहते हुए भी आत्मसाधन करते थे, तो हम भी गृहवासमें रहकर ही आत्मसाधन करें ऐसा आलम्बन हम लेना नहीं चाहते।

प्रथमानुयोगका विषय है, कथानुयोगका विषय है। जनकविदेही एक ऐतिहासिक व्यक्ति हुए, रामचंद्रजीके इतिहासमें उनका नाम आता है, यह जनकविदेहीका विदेहीपना बतानेके लिए बात की है। उनके गुणको प्रसिद्ध करनेके लिए यहाँ बात की है। परन्तु इस बात को खुदकी गृहस्थआश्रमकी रुचिको पुष्ट करनेके लिए कोई आलम्बन लेता है, आधार लेता है तो उसको प्रथमानुयोग, कथानुयोग कैसे पढ़ना चाहिए, इसकी समझ नहीं है। शास्त्र पढ़ेगा और विपर्यास उत्पन्न हो जाएगा। कहते हैं कि हम तो किसका आलंबन लेंगे ? कि ``**श्री जिनेन्द्र जैसे जन्मत्यागी भी छोड़कर चल निकले,...**'' हम तो उनका आलम्बन लेंगे।

तीर्थंकर परम देव इसी भवमें निर्वाणपदको प्राप्त करनेवाले होते हैं। तीन ज्ञान लेकर तो माताके पेटमें आते हैं। गर्भमें आते हैं तभी तीन ज्ञान सहित आते हैं, सम्यक् मतिज्ञान, सम्यक् श्रुतज्ञान, सम्यक् अवधिज्ञान। तीन ज्ञान तो लेकर आते हैं। इसलिए उनकी दशा तो जन्मसे ही त्यागी जैसी होती है, ठीक ! वरना वे भी चक्रवर्ती हैं। इस चौबीसीमें तीन तीर्थंकर चक्रवर्ती हुए। शान्तिनाथ,

कुंथुनाथ और अरनाथ। बाकी सब राजा-महाराजा तो होते ही हैं। कोई सामान्य ऐसे कमज़ोर पुण्य नहीं होते हैं उनके। बहुत पुण्य लेकर आते हैं, इसलिए वे कोई पुण्यवान माता-पिताके यहाँ ही पैदा होते हैं। उन्हें सभी संयोग अनुकूल होने पर भी वे जन्मत्यागी जैसे थे। जन्मसे ही त्यागी जैसे थे। जन्मसे ही वैरागी जैसे थे, क्योंकि ज्ञानी होते हैं। महाज्ञानी होते हैं। वे जन्मत्यागी जैसे होने पर भी सभी संयोगोंको छोड़कर निकल चले। जब वैराग्य उत्पन्न होता है तब खुद मुनिदशामें प्रवेश करते हैं। उन सभीका तो इतिहास ऐसा ही है, लोकांतिक देवोंको अवधिज्ञानमें खयाल आता है कि अभी मनुष्य लोकमें फलाने-फलाने तीर्थंकरका मुनिदशाका काल पक गया है। इसलिए कोई इस प्रकारके निमित्त-नैमित्तिक प्रसंग खड़ा करते हैं कि जिससे तीर्थंकरके जीवको अत्यंत वैराग्य आ जाता और वे राजपाट छोड़कर जंगलमें चले जाते हैं। स्वयं ही परमगुरु होनेसे, स्वयं ही जगतगुरु होनेसे (स्वयं दीक्षा लेते हैं) उनके उस भवमें कोई गुरु नहीं होते हैं। पूर्व भवमें जब देशनालब्धी और आत्मस्वभावकी पहचान करनी होती है तब कोई गुरु मिलते हैं; परन्तु वर्तमान तीर्थंकरके भवमें स्वयं ही परमगुरु और जगतगुरु होनेसे उनको दीक्षा देनेवाले कोई गुरु नहीं होते। स्वयं अपने आप दीक्षा लेते हैं। अत: उनको स्वयंबुद्ध भी कहा जाता है। तीर्थंकर देवको स्वयंबुद्ध कहा है। वे भी जब संयोग, राजपाट आदि ``**...छोड़कर चल निकले, ऐसे भयके हेतुरूप...**'' आत्मकल्याणका उसमें भय लगता है, कि यह संयोग है, इसमें अगर परिणाम रुके रहे तो आत्माके कल्याणमें बाधा पहुँचेगी ऐसा भय, ``**ऐसे भयके हेतुरूप....**'' संसार भयके हेतुरूप नहीं मोक्ष भयके हेतुरूप ``**उपाधियोगकी निवृत्ति यह पामर जीव करते-करते काल व्यतीत करेगा तो अश्रेय होगा, ऐसा**

भय जीवके उपयोगमें रहता है, क्योंकि यही कर्तव्य है।" अथवा ऐसा ही होना योग्य है। देखो ! संसारमेंसे छूटनेकी वृत्ति कितनी तेज़ है !! कृपालुदेवके वचनोंको देखते हुए यह बात स्पष्ट भासित होती है कि स्वयं इस भवमें ही पूर्णदशाको प्राप्त होना चाहते थे। हमको इस भवमें ही पूरी-पूरी परिपूर्ण शुद्धि, मोक्षदशा-निर्वाणपद चाहिए। दूसरा भव अब हमको नहीं चाहिए। ऐसी उनकी भावना थी।

उन्होंने आगम नहीं पढ़े थे, ऐसी बात नहीं थी। आगममें सर्वज्ञ केवलज्ञानीका विधान है। यह तो केवलज्ञान अनुसार विधान है कि पंचम कालमें इस क्षेत्रमें जन्म लेनेवालोंका यहाँसे मोक्ष नहीं होता है, निर्वाणपद नहीं होता है, ऐसी आगमकी बात तो स्वयंके खयालमें थी, परन्तु अन्दर पुरुषार्थ इतना प्रबल था, इतना प्रबल पुरुषार्थ था कि इस पुरुषार्थके ज़ोरमें और पूर्ण शुद्ध होनेकी विशुद्ध भावनामें आगमके सिद्धांत और वस्तुस्थितिका उल्लंघन करके भावनाके परिणाम काम करते थे, ठीक ! आगमकी मर्यादा तोड़कर परिणाम जाते थे, ठीक ! दरकार नहीं होती थी। लिखा होगा आगममें, लिखा हो तो भले ही लिखा हो, उसकी मर्यादा इतनी है कि इस क्षेत्रसे नहीं जाएंगे, लेकिन अरे ! हम तो महाविदेहसे चले जाएंगे ! इस देह सहित महाविदेहमें चले जाएंगे। ठीक ! फिर वहाँसे चले जाएंगे वैसी हमारी भावना है। हमारी भावना अभी मोक्ष (नहीं) है उस बातका स्वीकार करना नहीं चाहती, जाओ ! ठीक ! फिर आखिरमें लिखा है, वस्तुस्थिति अन्यथा होती नहीं। बीचमें सहराका रेगिस्तान आया और पैरोंने निकाचित थकान ग्रहण की। वस्तुस्थिति अन्यथा नहीं होती। जब कि यह तो पहलेसे ज्ञान था परन्तु जब पुरुषार्थ उठा तब यह वस्तुस्थितिकी मर्यादाको तोड़कर परिणाम काम करते थे।

इतना ज़ोरदार पुरुषार्थ था। प्राप्त क्यों नहीं कर सकते ? बात तो इतनी है इसके अन्दर।

उनको अन्दर खुदके पुरुषार्थके कारण शक्यता क्या दिखती है कि अंतर्मुख निर्विकल्प दशामें तो हम स्थिर रह सकते हैं, जब कि वही अंशत: मोक्षरूपदशा है, पूर्ण मोक्षदशाका यही अनन्य कारण है और स्वयं अंशत: मोक्षरूपदशा है। अब अगर हम इस दशामें स्थिर रह सकते हैं तो अगर अंतर्मुहूर्तके लिए इस दशामें स्थिर रह जाए तो केवलज्ञान और मोक्षदशा उत्पन्न हो सकती है। और ऐसा क्यों नहीं हो सकता ? हमारी शक्ति है। शक्तिको देखते हुए हम ऐसा कर सकते हैं ऐसी बात है फिर आगममें इस कालमें इस क्षेत्रसे मोक्ष नहीं है - ऐसा क्यों लिखा है ? इस क्षेत्रके लिए लिखा होगा, (तो) हम तो दूसरे क्षेत्रसे चले जाएंगे। ठीक ! यह मर्यादा बाँधी होगी तो इस क्षेत्रको छोड़कर दूसरे क्षेत्रसे हम चले जाएंगे। परन्तु हम तो जाएंगे, जाएंगे और जाएंगे ही। ठीक ! इतना पुरुषार्थका ज़ोर खुदको वर्त रहा है तब जाके सिर्फ एक भव बाकी रह गया है। जो विद्यार्थी फर्स्टक्लास फर्स्ट आनेका प्रयत्न करे वह ज्यादासे ज्यादा सेकन्ड आएगा या थर्ड आएगा, इसका फिर अठारवाँ नंबर नहीं आता है। क्योंकि इसका प्रयत्न फर्स्टक्लास फर्स्ट आनेका है। ज्यादासे ज्यादा थोड़ा फर्क पड़े, तो रेसका घोड़ा दौड़े, इस प्रकार थोड़ासा फर्क पड़ता है। उसका कान देखना पड़े कि कौन आगे है, कौन पीछे है, बाकी सब साथमें हो इसी तरह दिखता है। ऐसे इसी भवमें मोक्ष जानेकी इच्छा करनेवालोंको फिर ज्यादा भव हो ऐसा बन नहीं सकता। प्रारम्भसे ऐसा ज़ोरदार पुरुषार्थ जिनको वर्तता है वे ऐसा लिखते हैं कि ``**भयके हेतुरूप उपाधियोगकी निवृत्ति यह पामर जीव करते-करते काल व्यतीत**

करेगा...'' देखो ! खुदकी पामरता (दिखाते हैं)। अपूर्णता है ना ! बाहरमें छद्मस्थ दशाके गुणस्थान तक अनंत वें भागमें हैं, इसलिए पूर्णताका ज्ञान वर्तता है। ``**... तो अश्रेय होगा,...**'' यह मेरे आत्माके कल्याणके विरुद्ध बात है। ``**ऐसा भय जीवके उपयोगमें रहता है,...**'' हमारे उपयोगमें इतनी सावधानी है। इतनी दरकार है, इतनी दरकार है ``**क्योंकि यही कर्तव्य है।**'' ऐसा ही होना योग्य है। ऐसा ही होना चाहिए। साधकदशामें पूर्णता होनेकी कितनी तालावेली होती है ! कितनी लगन होती है इसका यहाँ पर स्पष्ट चितार है। अब इसके ऊपरसे मुमुक्षुजीवको कितनी (लगन) होनी चाहिए इसकी त्रिराशी खुदको कर लेनी है। अत्यंत शिथिलपना है, ऐसा शिथिलपना अगर खुदसे सहन होगा तो अकल्याण होगा और सहन नहीं होगा तो कल्याण होगा। यहाँसे ऐसा लेना है। इस तरह अपने परिणामकी संक्षेपमें बात करनेके बाद थोड़ी विशेष बात इसी पत्रमें करेंगे। अभी समय हुआ है।

देहकी सभानता आत्माका भान भूलाती है (वैसे) रागकी सावधानी स्वरूपकी सावधानी होने नहीं देती।
(-पूज्य भाईश्री)

श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत, पत्रांक ५६९। कृपालुदेव स्वयंके परिणामकी थोड़ी चर्चा करके आगे लिखते हैं।

``**जो रागद्वेषादि परिणाम अज्ञानके बिना सम्भवित नहीं हैं, उन रागद्वेषादि परिणामोंके होते हुए भी, सर्वथा जीवन्मुक्तता मानकर जीवन्मुक्तदशाकी जीव आसातना करता है, ऐसे प्रवृत्ति करता है।**'' यह निश्चयाभासी जीवके परिणमनका प्रकार है कि जिसमें अज्ञानपूर्वक राग-द्वेष वर्तते हैं। अज्ञान हो तो ही इस प्रकारके राग-द्वेष होते हैं। अज्ञानके बिना ऐसे चिकने राग-द्वेषके परिणाम नहीं होते। राग-द्वेष जो कि अन्य परिणाम हैं, विभाव जातिके परिणाम हैं। उन परिणामोंमें तन्मयदशा, चिकाशवाली दशा, अज्ञानके बिना संभवित नहीं है। उस प्रकारके राग-द्वेष आदि परिणाम होने पर भी जीवन्मुक्तपना मानकर, अवस्थामें विभाव पर्यायमें पूराका पूरा बन्ध

जाता है फिर भी मुक्तपना मानकर, ऐसा माननेवाला जीव जिन महात्माओंकी जीवन्मुक्तदशा हुई वैसे महापुरुषोंकी आसातना करता है।

स्वरूप-मूल सहजात्मस्वरूप, जीवन मुक्त स्वरूप है। स्वरूपको तो मुक्त स्वरूप भी कहने मात्रका है। क्योंकि, मुक्तपना तो बंधकी अपेक्षा रखता है। जो बंधा हो वह मुक्त होता है। परन्तु जिस स्वरूपमें त्रिकाल बंधपना नहीं, बंध तत्त्व नहीं, बंध तत्त्वके अभाव स्वभावसे जो तत्त्व है, उसको मुक्तपना कहना यह उपचार मात्र है। समझानेके लिए है। वास्तविकरूपसे तो मुक्तपना भी उसपर लागू नहीं होता है। वह नाम मात्र है। ऐसे स्वरूपका अवलम्बन लेनेवाले महापुरुष बन्धसे दूर वर्तते हुए जब मुक्त अवस्थाको प्राप्त होते हैं, तब वह अवस्था सदृश, मुक्त अवस्था सदृश, आत्मतत्त्वका-परमतत्त्वका स्वभावपना देखकर स्वभावको, स्वरूपको, शुद्धात्मतत्त्वको भी मुक्तपना है ऐसा कहनेमें आता है। यह अवस्थाका, पर्यायका सहज स्वभावी द्रव्य पर उपचार है। वास्तविकता में तो इस बन्ध-मोक्षसे वह रहित तत्त्व है। जब बंध-मोक्षसे रहित हूँ, ऐसा जिसका परिणमन स्वद्रव्याश्रित, स्वद्रव्याकार, स्वरूपाकार रूपसे वर्तता है तब उसे जीवन्मुक्त दशा उत्पन्न होती है। ऐसी दशा उत्पन्न होनेके पहले सर्वथा मतलब कि पर्यायकी अपेक्षासे भी जीवन्मुक्तपना जो जीव मान लेता है वह जीव निश्चयाभासमें वर्तता है। वह जीवन्मुक्त दशाको प्राप्त, ऐसे परमात्माकी आसातना करता है। जीवन्मुक्त दशाको प्राप्त तो परमात्मा हैं, मुक्त आत्माएं हैं, उनकी इसमें आसातना होती है और ऐसे वर्तता है। यह भी एक भ्रांति है कि खुदको मुक्तपना, अंशत: भी मुक्तपना उत्पन्न हुए बिना मात्र कल्पनासे, आभास मात्रसे, भ्रमसे ऐसा मानना - यह एक नया अपराध है, विशिष्ट प्रकारका

अपराध है। अन्दरमें खुदका स्वयं स्वरूपका अपराध है, और बाहरमें मुक्त आत्माओंकी, परमात्माओंकी भी इसमें आसातना होनेका अपराध है। ऐसे वर्तता है।

अवस्थामें तो ``**सर्वथा रागद्वेषपरिणामकी परिक्षीणता ही कर्तव्य है।**'' अवस्थामें अनादिसे जो राग-द्वेष-मोहके परिणाम चालू रहे हैं उसका क्षय करना ही कर्तव्य है। इनका सर्वथा नाश करना ही कर्तव्य है। और सम्यक् प्रकारसे इसका नाश हो ऐसे ही उपायका आदर करना होगा। अब इतना कहकर इसके बादके कुछ वचनामृत कुछएक महत्त्वपूर्ण सिद्धांतोंका प्रतिपादन करते हैं। यहाँसे कितने ही वचन बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्धांतोंका प्रतिपादन करते हैं। पहली बात यह की है कि,

``**जहाँ अत्यन्त ज्ञान हो वहाँ अत्यन्त त्यागका सम्भव है।**'' मतलब कि जिनको पूर्ण ज्ञान हो, त्रिकाली ज्ञान हो, तीन कालका पूर्ण ज्ञान हो उनको अत्यंत त्याग होता है। उनको अंदर-बाहरका सर्वथा त्याग होता है, यह एक दार्शनिक सिद्धांत है। दार्शनिक सिद्धांत मतलब अन्य दर्शनके सामने यह एक सिद्धांत है। अन्य दर्शनमें ईश्वरकी, भगवानकी ऐसी कल्पना की गई है कि भले ही बाहरमें कोई त्याग न हो फिर भी वे भगवान हैं और इनको तीन कालका त्रिकाली ज्ञान वर्तता है और वे त्रिकाल ज्ञानी होते हैं। यहाँ कृपालुदेवने एक सिद्धांत स्थापित किया है, कि जिस आत्माको परिपूर्ण ज्ञान हो, तीन कालका ज्ञान हो, त्रिकाल वेत्ता जिनको कहनेमें आता है, ऐसा कोई भी आत्मा हो तो वह अंतर-बाह्य त्यागी ही होता है। बाहरमें इनका कोई परिग्रह नहीं होता और अन्दरमें इनका कोई विभावके साथ सम्बन्ध नहीं होता, एक विकल्प मात्रका भी सम्बन्ध नहीं होता, कोई रागके अंशका भी सम्बन्ध नहीं होता, तब

ही पूर्ण ज्ञान होता है। इसलिए अंदर-बाहर राग और रागके निमित्तोंके बीच रहे किसी आत्माको पूर्ण ज्ञान हो, तीनों कालका ज्ञान हो ऐसा कभी संभव नहीं है। यह एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है। दार्शनिक सिद्धांत है।

कृपालुदेवने यहाँ अन्य दर्शनको लक्ष्यमें रखकर यह बात की है। क्योंकि, जगतमें ऐसा माननेवाले हैं कि हमारे भगवान चाहे कैसी अवस्थामें हो, वे हमारे भगवान हैं और उनको तीन कालका ज्ञान है। और ऐसे प्रसंगोंका प्रतिपादन इनके शास्त्रोंमें भी करनेमें आता है तो यहाँ कहते हैं कि यह किसी भी तरह संभवित नहीं है। जहाँ अत्यंत मतलब पूर्ण ज्ञान हो वहाँ ही अत्यंत मतलब पूर्ण त्याग संभव है। जहाँ पूर्ण त्याग नहीं होता है वहाँ पूर्ण ज्ञान भी नहीं हो सकता। मतलब कि जो वीतराग होते हैं उन्हें रागका कोई प्रसंग नहीं होता है। जैसे कि शरीर पर अलंकार होते हैं। आजकल जैन प्रतिमाओंमें भी प्रतिमाके ऊपर अलंकारका जो प्रकार शुरू हुआ है वैसा प्रसंग वीतराग दशामें संभव नहीं है। वीतराग मतलब वीतराग। अत्यंत त्याग हो वहीं अत्यंत ज्ञान संभवित है। दूसरे कोई प्रकारसे संभव नहीं है। फिर वहाँ से लेकर जितने कोई अन्य दर्शन हैं उन सभीपर एक ही सिद्धांत लागू होता है।

अत्यंत त्याग प्रगटे बिना (अत्यंत ज्ञान नहीं होता), यद्यपि मुनिदशामें ही तिलतुष मात्र भी परिग्रह नहीं होता कि जब छट्ठे-सातवें गुणस्थानमें आते हैं, ``**नग्नभाव, मुण्डभाव, सह अस्नानता, अदंतधोवन आदि परम प्रसिद्ध जो**'' कृपालुदेवने खुदके लिए जो भावना भायी है ऐसी जो मुनिदशा; इस मुनिदशामें ही जहाँ तिलतुष मात्र परिग्रह नहीं होता है, तो वहाँ इस मुनिदशासे आगे बढ़कर कि जिसे मुनीन्द्र दशा कहनेमें आती है (ऐसी जिनेन्द्रदशामें परिग्रह -

अलंकार आदि होना कैसे बन सकता है ?) जिनेन्द्रकी एक दूसरी व्याख्या मुनीन्द्रपना है। मुनियोंके इन्द्र। मुनियोंके इन्द्र मतलब मुनियोंमें सर्वश्रेष्ठ। क्योंकि, मुनिदशामें आगे बढ़कर इस दशाको प्राप्त किया है। मतलब सर्व श्रेष्ठ दशाको प्राप्त किया है। ऐसे जिनेन्द्रको मुनीन्द्र भी कहा जाता है। इन्द्र मतलब श्रेष्ठ।

``**अत्यंत त्याग प्रगट हुए बिना अत्यंत ज्ञान नहीं होता, ऐसा श्री तीर्थंकरने स्वीकार किया है।**'' बहुत Clear Cut अभिप्राय है, यहाँ गोल-गोल बात नहीं की है। जहाँ अत्यंत त्याग प्रगट होता है वहीं अत्यंत ज्ञान प्रगट होता है। कारण क्या है ? कि यह बहुत Scientific बात है, कि जहाँ अत्यंत त्याग नहीं है वहाँ कुछ तो ग्रहण करनेकी जो परिस्थिति है, और वही ज्ञानका प्रतिबद्धपना है। उपयोगका वहाँ प्रतिबद्धपना है। सर्वथा निरावरण उपयोग कब होता है ? कि जब उपयोग किसी भी अन्य द्रव्य-भावमें प्रतिबद्धताको प्राप्त नहीं हो तब। इसीलिए भगवानकी दशा (की) दो प्रकार (से) प्रतिमाकी हमारे यहाँ स्थापना है, खड़गासन और पद्मासन। ये दोनों ध्यानके आसन हैं। और तेरहवें गुणस्थानमें शुक्लध्यानकी पर्याय वहाँ है, शुक्लध्यानका भी आखरी पाया है। चार पाए जो शुक्लध्यानके हैं उनमें भी आखरी पाया है। और निर्‌अवशेष अंतर्मुख दशा है। निर्‌अवशेष अंतर्मुखतामें कुछ भी बाकी नहीं रहता। इसलिए उपयोगकी एक अंश भी बहिर्मुखता नहीं होती है। उपयोगका कोई भी अंश जब बहिर्मुख होता है तब उपयोग अन्य पदार्थके साथ प्रतिबद्धताको प्राप्त होता है, और वहाँसे ज्ञानका आवरण, ज्ञानावरणीय वहाँसे शुरू होता है।

एक सिद्धांत समझनेके लिए बात लेते हैं, कि मानो ज्ञानी शास्त्र पढ़े, ज्ञानी हाँ ! अज्ञानीकी बात नहीं लेनी है; ज्ञानी शास्त्र पढ़े

तब उनका ज्ञान जितना अंतर्मुख है उतना निरावरणपनेको प्राप्त होता है और जितना उपयोग शास्त्रमें जाता है उतना ज्ञानावरणीयका आवरण आता है। एक साथ दो बातें हैं। क्योंकि साधक दशामें मिश्रधर्म है। अंशत: अंतर्मुखता है (और) अंशत: बहिर्मुखता है। फिर बहिर्मुख उपयोगका विषय चाहे देव, गुरु, शास्त्र कोई भी हो, कोई भी पदार्थ है। अरिहंत भगवान दूसरे अरिहंत भगवानका ध्यान नहीं करते, या दूसरे सिद्धभगवानका भी ध्यान नहीं करते। नीचेवालेका (ध्यान) करनेका तो प्रश्न ही नहीं है। निर्अवशेष अंतर्मुख दशामें बिराजमान रहते हैं, ऐसे वीतराग प्रभुको केवलज्ञान प्रगट होता है। जब तक अत्यंत त्याग प्रगट नहीं हो तब तक अत्यंत ज्ञान भी, पूर्ण ज्ञान भी प्रगट नहीं होता है ऐसा श्री तीर्थंकरने स्वीकार किया है। यह तीर्थंकर भगवानका आदेश है। हमने भी स्वीकार किया है परन्तु फिर भी तीर्थंकर भगवानके नामसे बात करते हैं। मूलमें माल तो तीर्थंकर भगवान का है। ज्ञानीपुरुष तो आड़तिया (निस्पृह दलाल) बनकर जगतको यह माल देते हैं। दलाली लेते नहीं। अब आगे कहते हैं :

``**आत्मपरिणामसे जितना अन्य पदार्थका तादात्म्य-अध्यास निवृत्त होना, उसे श्री जिनेन्द्र त्याग कहते हैं।**'' अब यहाँ त्याग कहाँसे शुरू होता है ? त्यागका प्रारंभ कहाँसे होता है ? इसकी बात करते हैं। अगर कोई ऐसा कहें कि हमने घर छोड़ा, दुकान छोड़ी, समाज छोड़ा, तो क्या वहाँसे त्यागकी शुरूआत होती है ? कि नहीं होती बल्कि आत्मपरिणाम से जितना अन्य पदार्थसे तादात्म्य अध्यास का छूटना (वहाँसे त्यागकी शुरूआत होती है)। अन्य पदार्थके साथ आत्मापनेका - अपनापनेका भाव-वह अध्यास है। अन्य पदार्थमें अपनत्वका भाव वह अध्यासित परिणाम है। वह अन्य द्रव्य-भावके

साथ एकत्वरूप परिणाम है। तन्मयतारूप परिणाम है। तादात्म्यरूप परिणाम है। यह अध्यासका निवृत्त होना यह अध्यासका छूट जाना - उसे श्री जिन त्याग कहते हैं। यहाँसे त्याग शुरू होता है।

यह भी त्यागका क्रम है। त्यागका क्रम परद्रव्यके त्यागसे शुरू नहीं होता, ठीक ! यह कृपालुदेवने कैसी जबरदस्त बात की है। त्यागका क्रम अध्यासके त्यागसे शुरू होता है। परद्रव्यके साथ अध्यास वैसा का वैसा हो और सर्वसंग परित्याग करके जीव दीक्षा लेकर, जिनदीक्षा लेकर निरअतीचारका पालन करें, जिनोक्त व्यवहारका पालन करें, तो भी शास्त्रमें उसको-द्रव्यलिंगी मुनिको असंयमी, अव्रती और अत्यागी कहनेमें आया है।

कुन्दकुन्दआचार्यदेवका अष्टपाहुड नामका जो शास्त्र है वह दार्शनिक सिद्धांतोंको प्रसिद्ध करता हुआ अध्यात्मशास्त्र है। अध्यात्मशास्त्र है; फिर भी वहाँ शास्त्र रचनाका मुख्य दृष्टिकोण दार्शनिक है। तो वहाँ दर्शनपाहुडमें ऐसी गाथाएँ ली है कि `**असंजयं ण वंदेही**', असंयमीको वंदन नहीं करना। तो इसमें कोई ऐसा समझे कि गृहस्थको वंदन नहीं करना, भले ज्ञानी हो। ऐसा वहाँ नहीं कहना है; क्योंकि इसके पहले ही पाँचवी गाथामें तो सम्यक्दृष्टिको, ज्ञानीको वंदन, नमस्कार और अर्घ तक मतलब कि इनकी पूजा करने तककी बात ले ली है। अत: खुदके वचनोंका विरोध करनेका तो सवाल ही नहीं उठता। परन्तु जो बाह्यत्याग में वर्तता है, ऐसे जीवके सामने अंगुली निर्देश किया है कि (त्याग करने) के बावजूद परिणाममें राग और परपदार्थके साथ एकत्वका अध्यास जिसको वर्तता है वह त्यागी होने पर भी असंयमी है। और वह वंदन करनेके योग्य नहीं है; क्योंकि वह अज्ञानदशामें-पहले गुणस्थानमें वर्तता है। अध्यासका त्याग चौथे गुणस्थानमें सबसे पहले होता है और वहाँसे धर्मकी

शुरूआत होनेसे और धर्म पूज्य होनेसे धर्मकी पूजनीयता शुरू होती है। जब तक धर्म प्रगट नहीं होता तब तक पूज्यपना भी शुरू नहीं होता।

यहाँ भी दार्शनिक रीतिसे यह बात है कि जब तक आत्मपरिणाम अन्य पदार्थके अध्याससे निवृत्त नहीं हो तब तक वह त्यागी नहीं है, और जब निवृत्त होता है तभी भगवानने, श्री जिनेश्वरदेवने उसका त्याग गिना है। तब तक उसको त्यागमें नहीं गिनते हैं। भले ही बाहरमें त्याग दिखता हो फिर भी। और यहाँपर बाहरमें त्याग न दिखता हो, गृहस्थ अवस्था हो तो भी उनको त्यागी गिना है। त्याग नहीं दिखता हो फिर भी त्यागी गिना है और वहाँ त्याग दिखने पर भी त्यागी नहीं गिना है। इसका यह नींवका सिद्धांत है। अध्यासित जीव है या अध्याससे निवृत्त हुआ है ? अनादिका अध्यास छूटा है क्या ? इतना ही देखना रहता है।

वह तादात्म्यअध्यास - निवृत्तिका मतलब, निवृत्तिरूप त्याग करनेका मतलब, ``**वह तादात्म्य-अध्यास-निवृत्तिरूप त्याग होनेके लिये यह बाह्य प्रसंगका त्याग भी उपकारी है, कार्यकारी है।**'' परन्तु इस हेतुसे हो तो वैसा प्रयोग करनेके लिए, अध्यासके त्यागका प्रयोग करनेके लिए अगर बाह्य पदार्थके त्यागका प्रयोग करनेमें आये तो इसे उपकारी अथवा निमित्त गिननेमें आता है। परन्तु अध्यासके त्यागका लक्ष्य भी नहीं हो, समझ भी नहीं हो और अंतरमें इस प्रकारके अंतरंग परिणाम भी नहीं हो और बाह्यत्याग कर लें तो वैसा तो बाह्यत्याग भी उपकारी नहीं है। ``**यम, नियम, संयम आप कियो, पुनित्याग बिराग अथाग लह्यो**'' चाहे जो कुछ साधन किया हो सब बेकार गए। इस पदकी रचना इसी अपेक्षासे की गई है।

``**बाह्य प्रसंगके त्यागके लिये अंतरत्याग कहा नहीं है, ऐसा**

है;..." कि बाह्य प्रसंगके त्यागके लिए अंतरका त्याग नहीं है, त्यागसे शुरू नहीं करना है बल्कि अंतरके त्यागसे शुरू करना है। अध्यासके त्यागसे शुरू करना है। इसके लिए तुम बाह्य त्याग करो, ठीक बात है। परन्तु बाह्य प्रसंगके त्यागके लिए अंतर्त्याग नहीं कहा है।

``**तो भी इस जीवको अंतर्त्यागके लिये बाह्य प्रसंगकी निवृत्तिको कुछ भी उपकारी मानना योग्य है।**" कुछ भी उपकारी मतलब प्रयोग करनेके लिए उपकारी है। अंतर्त्याग के लिए जो बाह्य प्रसंगका त्याग करनेमें आए तो वह उपकारी है। वह प्रयोग वाजिब है। ऐसा प्रयोग करनेमें कोई बुराई नहीं है। इसलिए बाह्यत्याग करना ही नहीं ऐसा नहीं है। लेकिन करना तो किस हेतुसे करना (इसके लिए) कृपालुदेवका यहाँ स्पष्ट मार्गदर्शन है। ज्यादा स्पष्ट हो इसके लिए इस बातका दूसरी तरहसे विचार कर सकते हैं और वह इस तरह विचार कर सकते हैं कि अनादिसे इस जीवको परद्रव्यमें सुखाभास, सुखबुद्धि, इस प्रकारके परिणाम अनादिसे चले ही आ रहे हैं। इसलिए परपदार्थके प्रति रसवाले परिणाम होते रहते हैं। वे परिणाम वैसे के वैसे रह जाए और बाहरमें पदार्थोंका त्याग कर दिया जाए तो अन्दरमें रोग तो वैसाका वैसा रहा और बाहरमें ऊपर-ऊपर मल्लम-पट्टी कर ली। परन्तु वह रोग अभी गया नहीं है और वह रोग अन्दरमें कुछ न कुछ नुकसान किये बिना नहीं रहेगा।

इस प्रकार जो आदेश है कि अध्यासका त्याग जिसको श्री जिन त्याग कहते हैं वहाँसे शुरूआत करनेकी पद्धतिमें विशिष्टता क्या है ? यह पद्धति क्यों एकदम सुन्दर है ? कि बाह्य त्याग सहजमात्रमें कब होगा ? कि उन पदार्थोंके प्रति सुखबुद्धिका अभाव हो जाएगा तब। पदार्थके स्वरूपज्ञान अनुसार जड़ परमाणुकी किसी

भी प्रकारसे परिणमनको प्राप्त पर्याय है वह भले ही किसी भी प्रकारसे परिणमनको प्राप्त हो, कोई भी स्वरूपमें परिणमनको प्राप्त हो तो भी उसमें सुखकी गन्ध मात्र भी नहीं है। जड़ यानी कि पूरा जड़ ही है। सुखके अभाव स्वरूप है। ऐसा जिनको पदार्थ ज्ञान, पदार्थका स्वरूप ज्ञान स्पष्ट वर्तता है उनको पर पदार्थ ज्ञानमें आने पर सुखकी कल्पना या आभास उत्पन्न नहीं होता है। इस कारणसे उस प्रकारका रस भी उत्पन्न नहीं होता हैं। उसके लिए उस पदार्थका त्याग करना वह सहज मात्रमें हो सकता है, उसमें ज़रा भी ताकत नहीं लगती है, पदार्थका त्याग करनेमें साधकको ज़रा भी बल नहीं लगाना पड़ता है कि मैं इसको छोड़ता हूँ अथवा जबरदस्ती छोड़नेका तो प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होता। क्योंकि, उन-उन पदार्थोंकी विद्यमानतामें अंतर त्याग जिसको वर्तता है वह बाह्य त्याग (खेल-खेलमें) सहजमात्रमें, लीला मात्रमें कर सकता है। परन्तु अन्दरमें उस पदार्थ के प्रति सुखरस वैसा का वैसा हो, मिटा ही नहीं हो, तो वह पदार्थका त्याग करता भी है तो उसको बाह्य त्यागके कालमें उस पदार्थके लिए परिणाम हुए बिना रहेंगे नहीं। उन परिणामोंको खुद ही रोक नहीं सकता है; क्योंकि, अन्दरमें रस पड़ा हुआ है। भोगमें योगका स्मरण कब हो ? कि भोगमें सुखबुद्धि नहीं हो तब। वरना तो बाह्यत्यागरूप योगमें भी भोगका स्मरण आये बिना रहेगा नहीं। क्योंकि, सुखबुद्धि पड़ी है। यह एक सहजरूपसे समझमें आये ऐसा विषय है और इसीलिए यथार्थ पद्धति, यथार्थ कार्य पद्धति जो है ऐसी जो जैनदर्शनकी कार्य करनेकी प्रणालिका है उस प्रणालिकाका मूल सिद्धांत कृपालुदेवने यहाँ स्थापित किया है।

इस सिद्धांतको यहाँ Establish किया है, कि आत्मपरिणामसे पदार्थके अध्यासका त्याग किया है वहाँसे त्यागकी शुरूआत भगवानने

कही है। इन पदार्थोंके बीच रहकर तुझे अगर सुखबुद्धिके अभावके कारण उन पदार्थोंके प्रतिका आकर्षण छूटा है, तो उसका त्याग करना यह बहुत सहजमात्रमें हो सकेगा, खेल-खेलमें हो सकेगा। परन्तु इस रसको मिटानेके लिए तू इन पदार्थोंका त्याग कर देगा तो वह कार्यपद्धति बराबर नहीं है। कार्यकी पद्धति बराबर नहीं है।

सिद्धांतमें भी ऐसा है कि श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक चारित्र होता है, चारित्रपूर्वक श्रद्धा-ज्ञान नहीं होता है। ये जीवके (तीन) मुख्य गुण हैं। श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र। ``दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः'' ये जीवके तीन मुख्य गुण हैं जो बन्धमार्गमें और मोक्षमार्गमें विपरीत और अविपरीतरूपसे परिणमन करते हैं। इसका विज्ञान क्या है ? इसका Science क्या है ? कि ज्ञान पूर्वक श्रद्धान होता है और श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक आचरण होता है। परन्तु आचरणपूर्वक श्रद्धा-ज्ञान हो ऐसा कभी बन नहीं सकता। क्योंकि यह वस्तुके - स्वरूपके विज्ञानसे विरुद्ध है। Science से Opposite है, क्या ? जैसे घोड़ागाड़ीमें घोड़ा आगे और गाड़ी पीछे होती है, परन्तु अगर गाड़ी आगे हो और घोड़ा पीछे जोड़ा जाए तो क्या दशा होगी ? कि Accident ही होगा। वह गाड़ी आगे चल नहीं सकेगी। इस तरह काम करनेकी एक सुव्यवस्था है। इस सुव्यवस्थाके सिद्धांत जिनागममें वस्तुके विज्ञानका अनुसरण करके और अनुभव करके प्रतिपादित किये गये हैं। इसलिए इस प्रकारसे त्यागके विषयका निरूपण करके फिर से खुदके परिणामका विषय कृपालुदेवने लिया है।

``**नित्य छूटनेका विचार करते हैं**'' व्यवसायसे छूटनेके लिए हमेशा हमको विचार आया करता है। क्योंकि हमको इन कार्योंमें रुचि नहीं रही, हमको रस नहीं रहा। कोई भविष्यके सुख या भोग-उपभोगके लिए यह प्रवृत्ति हमारी नहीं है। पूर्वकर्मको भोगनेके सिवाय

हमको इसमें कोई लेना-देना नहीं है। इसमेंसे छूटनेका विचार इसलिए आता है क्योंकि जितनी बाह्य निवृत्ति हमें विशेष होगी, उतना हमारा अंतर्मुख परिणमन भी विशेष होना सम्भवित है। ``**नित्य छूटनेका विचार करते हैं, और जैसे वह कार्य तुरत पूरा हो वैसे जाप जपते हैं।**'' और ऐसा हमारा प्रारब्ध जल्दी खत्म हो इसका हमारा अजपा-जाप चलता है।

व्यवसायका उदय, व्यापारका उदय कब (समाप्त हो) ? और कब हम अपने एक ही कार्यके पीछे अपना समय व्यतीत करें।

``**यद्यपि ऐसा लगता है कि वह विचार और जाप अभी तक तथारूप नहीं है, शिथिल है;...**'' देर होती है। इसका मतलब क्या ? कि भले ही यह जाप चलता हो तो भी जैसा चाहिए, (जैसा) चलना चाहिए वैसा नहीं चलता है। अवश्य-अवश्य इसमें शिथिलता है। यहाँ एक विशेष स्पष्टीकरण करना ज़रूरी है कि उन्होंने भले ही निर्मानतासे और सरलतासे खुदके परिणामोंको जैसे हैं वैसे लिखे हैं परन्तु हमलोग उनके वचनामृतका स्वाध्याय करनेवाले मुमुक्षु हैं, इसलिए हमलोग तो उनके गुणगान करने बैठे हैं। हम किस लिए बैठे हैं ? कि उनके गुणगान करने बैठे हैं। इसलिए उनके अवगुणकी बातको तो हमें लक्ष्यमें लेनेका सवाल ही उत्पन्न नहीं होता है। वे भले ही चाहे कुछ भी कहते हो कि हमारी शिथिलता है, हमारा इतना चलता नहीं है, ऐसा है, वैसा है, यह बात उनके लिए है, हमारे लिए नहीं है, ऐसे लेना। ऐसा यहाँपर ज़रा स्पष्टीकरण करना आवश्यक है। नहीं तो भूल हो जाए, ऐसा है। मुमुक्षुजीव भी भूल कर बैठता है। उनके वचनामृतोंका स्वाध्याय करना इसका अर्थ ही ऐसा है कि इन वचनामृतोंके स्वाध्याय द्वारा उनके गुणगान करना और उनकी भक्ति करना। परंतु अभक्ति होवे ऐसे कोई अंशमें भी

परिणाम नहीं करना चाहिए और करना उचित भी नहीं है। क्योंकि इसमें तो दर्शनमोहका तीव्र अनुबंध होता है। इसलिए यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि खुदसे, मुमुक्षुदशासे, कई ऊपर ऐसे जो महापुरुष हैं, वे महापुरुष, वे आराध्य देवकी जगह है। एक न्यायसे भगवानकी जगह हैं। अत: उनके प्रति अगर कोई भी अंशमें अभक्ति के परिणाम हो गये तो उसमें तीव्र दर्शनमोहका बंध पड़ता है। जो सबसे ज्यादा खराब बंध है।

कृपालुदेवने तो यहाँ तक स्थापित किया है कि भक्तिमें न्यूनता होती है, तो भी मुमुक्षु जीवकी योग्यता रुकती है। परम विनयकी कमी होती (है) तो वहाँ मुमुक्षुजीवकी योग्यता अटक जाती है। मतलब ज्ञानीमें परमेश्वरबुद्धि यह मुमुक्षुजीवका परमधर्म है, ऐसा सिद्धांत वहाँ २५४ पत्रमें स्थापित किया हुआ है।

अन्य पत्रोंमें भी यह बात ली है। वंचनाबुद्धिका पत्र ५२६ है। "**वंचनाबुद्धिसे प्रवृत्ति करे तो कभी कल्याण नहीं हो सकता।**" शायद ५२६में आखरी पैराग्राफ है, पृष्ठ ४३०, "**जीवको उन साधनोंकी आराधना निजस्वरूपके प्राप्त करनेके हेतुरूप ही है, तथापि जीव यदि वहाँ भी वंचनाबुद्धिसे प्रवृत्ति करे तो कभी कल्याण नहीं हो सकता। वंचनाबुद्धि अर्थात्** (स्पष्टीकरण देते हैं) **सत्संग, सद्गुरु आदिमें सच्चे आत्मभावसे जो माहात्म्यबुद्धि होना योग्य है, वह माहात्म्यबुद्धि नहीं,...**" इसलिए जितना माहात्म्य आना चाहिए उतना माहात्म्य नहीं आये - (बल्कि) कम आये तो भी वह वंचनाबुद्धि है। खुद धोखा खा जाता है। किस तरह धोखा खा जाता है कि जीवको ऐसे परिणाम रहते हैं, फिर गलत समाधान करता है कि हम तो भक्ति करते हैं ना ! हम अभक्ति कहाँ करते हैं। हम तो भक्ति करते हैं, अभक्ति करनेवालोंको बहुत दोष

लगता है; परन्तु हम तो भक्ति करनेवाले हैं। तो यहाँ कहते हैं ऐसा नहीं है तू कितनी भक्ति करता है यह सवाल है। कि जितनी सच्ची आत्मभावसे माहात्म्यबुद्धि होना योग्य है वह माहात्म्यबुद्धि नहीं ``**और अपने आत्मामें अज्ञानता ही रहती चली आयी है, इसलिये उसकी अल्पज्ञता, लघुता विचारकर अमाहात्म्यबुद्धि करनी चाहिये सो नहीं करना,...**'' इसीलिए खुदकी पामरताका विचार नहीं किया है और इनके भगवानपनेका विचार नहीं किया है। ``**तथा सत्संग, सद्‌गुरु आदिके योगमें अपनी अल्पज्ञता, लघुताको मान्य नहीं करना यह भी वंचनाबुद्धि है।**'' मतलब भक्तिकी कमी है उसमें धोखा खानेकी संभावना है, ऐसा कहते हैं। अभक्ति करनेका तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। उसकी तो बात ही नहीं है। परन्तु भक्तिकी कमी है उसमें भी खुद धोखा खाता है कि ``मैं तो भक्ति करता हूँ'' ``मैं तो कोई अभक्ति नहीं करता'' तो वहाँ खुद भूलमें खड़ा है।

जितना माहात्म्य आना चाहिए उतना माहात्म्य जब तक न आये तब तक खुद अपनी निंदा करे, खुद अपने आप ऐसा समझे कि यह मेरी क्षति है। यह मेरी भूल है, यह मेरा अपराध है, अविनय है, विनयकी कमी यह भी अविनय है। ``**वहाँ भी यदि जीव लघुता धारण न करे तो प्रत्यक्षरूपसे जीव भवपरिभ्रमणसे भयको प्राप्त नहीं होता, यही विचार करना योग्य है।**'' बहुत स्पष्टरूपसे लिख दिया है। अभी तक भक्तिकी कमीवाली परिस्थिति क्यों चालू रही ? वरना ऐसे समाधान करता है कि दूसरेको ज्यादा भक्ति होगी हमको कम होगी परन्तु हम अभक्तिमें तो नहीं हैं ना ? परन्तु ऐसा नहीं चलता है। भक्ति मतलब भक्ति और यह पूरीकी पूरी ही होनी चाहिए। सच्ची आत्मभावनासे ही आनी चाहिए। इसमें दूसरा अपवाद नहीं चलता है। बहुत स्पष्ट बात कही है। ``**जीवको यदि**

प्रथम यह लक्ष्य अधिक हो तो सब शास्त्रार्थ और आत्मार्थका सहजतासे सिद्ध होना संभव है।'' नहीं तो शास्त्रमें भी गोते खानेवाला है और आत्मार्थीपना कल्पनामात्र ही रहेगा। यह पहली बात है।

इस प्रकारसे इस पत्र द्वारा जीवको वंचनाबुद्धिमें फँसनेसे बचाया है। इन वचनोंको अमृत इसलिए कहनेमें आया है कि यह अमृत है। जो मरनेवालेको बचाए उसका नाम अमृत। अमृत किसे कहना ? स्पष्ट शब्दार्थ ले तो मृत यानी कि मरे, यह वास्तवमें मरनेवालेको बचाता है क्योंकि अगर भूल करनेमें आए तो मर ही जाए। भयंकर भावमरणमें आ जाय। इसलिए यहाँ भले ही खुदकी दशाके लिए चाहे जो शब्द इस्तेमाल किये हो, भूलसे भी मुमुक्षुजीवको अभक्तिके परिणाममें या भक्तिकी कमीके परिणाममें आना योग्य नहीं है। ऐसी स्पष्ट बात है।

``**अत: अत्यंत विचार और उस जापका उग्रतासे आराधन करनेका अल्पकालमें योग करना योग्य है, ऐसा रहा करता है।**'' महान ज्ञानदशामें भी इस प्रकारके परिणाम ऊपर-ऊपरकी दशा संप्राप्त करनेके लिए अगर उन्हें निष्प्रमादरूपसे वर्तते हो तो इस परिस्थिति से, मुमुक्षुजीवको इसकी त्रिराशी खुदके लिए समझने जैसी अवश्य है।

``**प्रसंगसे कुछ परस्परके सम्बन्ध जैसे वचन इस पत्रमें लिखे हैं।**'' अरसपरस सम्बन्ध के जैसा मतलब एक दूसरेकी पूर्ति करे ऐसे वचन हैं। एक दूसरेके पूरक वचन इसलिए हैं कि सत्संगसे विचारबल बढ़ता है, असत्संगसे विचारबल घटता है। इत्यादि एक दूसरेके पूरक वचन इस पत्रमें लिखे हुए हैं। ``**वे विचारमें स्फुरित हो आनेसे...**'' लिखते - लिखते स्फुरित हुए थे। कोई पूर्व योजना नहीं की थी, ज्यादातर जो लेखक होते हैं वे पहले पूर्व योजित,

व्यवस्थित योजना करके फिर लिखते हैं। और वक्ता भी लैक्चर (प्रवचन) देनेके लिए कुछ तैयार होकर जाते हैं। कृपालुदेवको ऐसा नहीं था, सहजरूपसे जो स्फुरणा हुई, जो स्फुरणा होती थी वह उनकी कलममें बहुत सुन्दरतासे अभिव्यक्त हो जाती थी। कोई कृत्रिमता नहीं करनी पड़ती थी, कोई पूर्व योजना नहीं करनी पड़ती थी।

इसका सबूत है ४४९ वाँ पत्र। ४४९ वाँ पत्र असलमें एक पत्र नहीं है बल्कि आठ पोस्टकार्डका एक पत्र है। (इसमें लिखा है कि आज) आठवाँ पोस्टकार्ड लिखते हैं, पहले गुजरातीमें पोस्टकार्डको 'पत्तु' कहते थे। अंग्रेजीमें पोस्टकार्ड कहते हैं। आठवाँ पोस्टकार्ड लिख रहे हैं इसका मतलब क्या ? देखो अगर इतना लंबा-चौड़ा पत्र पूर्व योजनापूर्वक लिखना होता तो एक कवरमें (लिफ़ाफ़ेमें) लिखते; परन्तु इनको कवरमें डालनेके लिए कागज़ हाथमें नहीं लिया है। कृष्णदासभाईको एक पोस्टकार्ड लिखनेका विचार आया, और विकल्पका उदय चालू रहा, कैसा विकल्पका उदय ? कि जिससे खुद भिन्नतारूपसे वर्तते हैं, ऐसे विकल्पका उदय सहज चलता है। वह विकल्प चलता है तो सहज ही चलता है, बंद होता है तो सहज ही बंद होता है। आत्मा आत्मामें वर्तता है। विकल्प विकल्पमें वर्तता है, आत्मा विकल्पमें वर्तता नहीं है। आठवाँ पोस्टकार्ड लिखते हुए ऐसा निर्देश किया है कि आज सहज ही ऐसा उदय वर्त रहा है; इसलिए यह लिखा जा रहा है अगर उदय नहीं वर्तता तो आधा लिखा हुआ भी छूट जाता। आधा वाक्य लिखा हुआ पड़ा रह जाए, आधा लिखा हुआ पोस्टकार्ड पड़ा रह जाए, क्यों ? हमारे परिणाम नहीं चलते, विकल्प नहीं चलता, बस ! बात खतम ! नहीं चले तो जबरदस्ती चलाना नहीं है और अगर

चले तो जबरदस्ती अटकाना भी नहीं है। देखो ! सहजता कैसी है ! अलौकिक सहजता है !! इसका दर्शन होता है। इन सब पत्रोंमें इनकी सहजता कितनी नैसर्गिक थी, कुदरती थी यह सब स्पष्ट दिखें ऐसा विषय है। एक पोस्टकार्ड लिखा, विकल्प चला दूसरा लिख दिया, (ऐसे लिखते - लिखते) आठ पोस्टकार्ड लिख दिये। जो एक पोस्टकार्ड पूरा नहीं लिख पाते हैं, वे कभी आठ-आठ पोस्टकार्ड लिख देते हैं; क्योंकि आज ऐसा उदय सहजरूपसे वर्त रहा है। क्रमसे चल गया तो चल गया, लिखा तो लिख दिया। अलौकिक बातें आ गई हैं। मुमुक्षुओंके लिए कितनी बातें ऐसी आयीं हैं अलग-अलग विषयोंकी, कि अनेक पहलुओंसे मुमुक्षुओंको मार्गदर्शन मिलता है।

कृपालुदेवके पत्रोंमें सबसे विशिष्ट बात यह है कि इनके संपर्कमें आये हुए मुमुक्षु आत्माएँ थे उनमेंसे कुछएक आत्माएँ बहुत सुपात्र जीव थे। और ऐसे सुपात्र आत्माओंको जैसे कोई हाथ पकड़ कर डूबते हुए को किनारे पर लें आये, ऐसी विचक्षणतापूर्वक सुन्दर मार्गदर्शन दिया है। **मुमुक्षुकी भूमिकाके योग्य ऐसा मार्गदर्शनका संग्रहस्थान, इसका दूसरा नाम कृपालुदेवके वचनामृत हैं। इस दृष्टिसे यह एक अजोड़ ग्रन्थ है।** मुमुक्षुजीवको वर्तमान साहित्यमें ऐसा ग्रन्थ, इसकी बराबरीका उपलब्ध नहीं है, ऐसा कह सकते हैं। दूसरे जो ज्ञानी महात्माओंके ग्रन्थ हैं, आचार्योंके ग्रन्थ हैं उनके भिन्न-भिन्न विषय उन्होंने खुदके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को देखकर उन महापुरुषोंने लिखे हैं। परन्तु यह तो सौ वर्ष पहले, मतलब वर्तमान कालमें और मुमुक्षु भूमिकाके योग्य (बातें आयी है)। मुमुक्षुकी भूमिकामें आनेवाले जीवोंको आगे बढ़नेके लिए खुदकी दशामें विशुद्धि प्रगट होनेके लिए और आत्माके प्रति जानेके लिए जो मार्गदर्शन है, वह

बहुत सारे पहलुओंसे सैंकड़ो बातें आयी हैं और बहुत सुन्दर मार्गदर्शन आया है। अगर जीव खुदके परिणामोंका अवलोकन करता हो तो उसको खुदके योग्य ऐसी बहुत सी बातें मिले, बहुत मार्गदर्शन मिले और आत्मकल्याणके लिए अत्यंत उपकारी हो ऐसे कई विषय अनेक जगह पर इस ग्रंथमेंसे मिलते हैं।

यहाँ पर भी कहते हैं, कि अरस-परस सम्बन्ध जैसे वचन ``**विचारमें स्फुरित हो आने से स्वविचार बल बढ़नेके लिये...**'' लिखे गये हैं। इसे लिखते हुए `मात्र मैं उपदेश नहीं देता' मेरा विचार बल भी बढ़ता है - ज्ञानबल बढ़ता है। ``**और आपके पढ़ने-विचारनेके लिये लिखे हैं।**''

कृपालुदेवकी विचारदशा और आत्मभावोंको आविर्भाव होनेकी सहज योग्यताका दर्शन हमें पत्रांक ६०९ में हो सकता है। ६०९ पत्रके सातवें पैराग्राफमें चौथी पंक्तिमें यह बात है। ``**यह जो हमने कहा है उसी बातकी विचारणासे...**'' सत्संगका माहात्म्य दिखाते-दिखाते ऐसा कहते हैं कि अगर जीवने सत्संगको परम स्नेहसे और परम हितकारी जानकर उसकी उपासना की हो तो उसका आत्मकल्याण हुए बिना नहीं रहता। परन्तु ऐसा नहीं किया है, इसलिए आत्मकल्याण नहीं हुआ है। ``**यह जो हमने कहा है उसी बातकी विचारणासे हमारे आत्मामें आत्मगुणका आविर्भाव होकर सहज समाधिपर्यंत प्राप्त हुए, ऐसे सत्संग को मैं अत्यंत अत्यंत भक्तिसे नमस्कार करता हूँ।**'' खुदने सत्संगकी भक्तिकी है। सत्संग उनके ज्ञानमें कैसा आया होगा कि जिस सत्संगकी बदौलत खुद तिरे हैं। उस सत्संगका माहात्म्य गाते-गाते खुदके आत्मगुण आविर्भूत होने लगे। मतलब कि आत्माकी जो आत्मपरिणति चलती रही थी वह आविर्भूत होकर विशेष तारतम्यतामें आकर सहज समाधि पर्यंत अर्थात्

फिरसे निर्विकल्प शुद्धोपयोगमें वे आ गए।

इस ज्ञानदशाका अंतरंग सिद्धांत ऐसा है कि सविकल्प दशामें जिस अंतरंग परिणतिसे आत्मदशा वर्तती है उसका बलवानपना है। अंतरंग परिणति वह मूलदशा है बाकी उत्तरदशा है जो कि बाह्यदशा है। जो कि बाहरमें कोई भी निमित्तके आश्रयसे वर्तती है। ज्ञानदशा में इसका बलवानपना नहीं है। मूलदशा (है वह) बलवानदशा है, उत्तरदशा कमज़ोर दशा है और इसलिए वह दशा घिसते-घिसते नाश हो जाती है और ज्ञानदशा परिपूर्ण रूपसे आ जाती है। यह साधकदशाका क्रम है। यह परिणति जब बलवान होती है तब उस निर्विकल्प परिणतिकी बलवत्तरताके कारण उपयोगकी सविकल्पता टूटकर निर्विकल्पता होती है। बार-बार निर्विकल्प शुद्धउपयोग होनेका क्या कारण है ? इसका यह विज्ञान है। Science है कि जब अंतरंग परिणतिमें तारत्म्यता विशेष हो तब उपयोग भी निर्विकल्प हो जाता है, और जब तारत्म्यता मंद हो तब सविकल्प दशा चालू रहती है।

यह विषय कुन्दकुन्दाचार्यदेवने प्रवचनसारके तीसरे प्रकरणमें तीसरे अधिकारमें लिया है। चरणानुयोग सूचक चूलिका करके अधिकार है - उसमें यह विषय लिया है कि मोक्षमार्गी धर्मात्माओंको भी जब पुरुषार्थकी तीव्र तारत्म्यता होती है तब निर्विकल्प दशा आती है और इसमें भूमिकाके योग्य सहज ही मंदता आती है, तब सविकल्प दशा आती है। फिर गुणस्थान चौथा हो, पाँचवां हो चाहे छट्ठा-सातवाँ हो। छट्ठा सविकल्पका है, सातवाँ निर्विकल्पका है। परिणतिके ऊपर (सब) आधार है।

अब कृपालुदेवकी आत्मपरिणति तो चालू है। परन्तु पूर्वमें आराधन किये हुए सत्संग, कि जिस सत्संगसे अनादिके परिभ्रमणके मार्गसे छूटकर मुक्तिके मार्गमें प्रवेश हुआ, जिसका निर्देश १९४ में किया

है। उनको यह सत्संगकी महिमा करते - करते आत्मगुण आविर्भूत हुए और परिणतिमें उग्रता आकर सहजसमाधि पर्यंत उसका परिणमन हो गया। (अर्थात्) वे निर्विकल्प दशामें आ गए। जैसे कोई भाव आते-आते अगर भावुकता विशेष हो जाए तो भावाश्रु आते हैं कि नहीं ? भाव के साथ-साथ आँसु भी आते हैं। उसको भावाश्रु कहते हैं - भावनाके आँसु कहते हैं। इस तरह यहाँ आत्मगुण आविर्भूत होकर शुद्धोपयोगमें परिणमन हुआ। सहज समाधिदशामें आ गये तो उन्होंने सत्संगकी भी भक्ति की है, ``**ऐसे सत्संगको मैं अत्यंत अत्यंत भक्तिसे नमस्कार करता हूँ।**''

कहनेका तात्पर्य यह है कि खुद पत्र लिखते हैं उसमें खुदके आत्मगुणोंका विकास साथ-साथ वे साधते जाते हैं और इसका ये पूरा सबूत है। वे लिखते भी जाते हैं, देखो ! अभी ऐसा हुआ, स्वविचारबल बढ़ता है, यहाँ समाधिदशा बढ़ती है और साथ-साथ उदयमें जो लिखने योग्य परिस्थिति थी वह लिखी जाती है। ऐसे करके इस पत्रका विषय उन्होंने समाप्त किया है। बाकीके जो प्रश्न है उन प्रश्नोंको उन्होंने नहीं खोला है।

``**जीव, प्रदेश, पर्याय तथा संख्यात, असंख्यात अनंत आदिके विषयमें तथा रसकी व्यापकताके विषयमें क्रमपूर्वक समझना योग्य होगा।**'' क्रमपूर्वक मतलब आगे जब भी योग्य लगेगा तब समझाएंगे; अभी इस विषयको हम हाथ नहीं लगाएंगे।

ये पत्र सौभाग्यभाईको लिखा है, ``**आपका यहाँ आनेका विचार है, तथा श्री डुंगरका आना सम्भव है, यह लिखा है सो जाना है। सत्संगयोगकी इच्छा रहा करती है।**'' हमें भी ``**सत्संगयोगकी इच्छा रहा करती है।**'' इस तरह यह पत्र यहाँ पर समाप्त होता है। हमारा स्वाध्याय भी आज समाप्त होता है।

श्रीमद् राजचंद्र

पत्रांक - ४९१

बंबई, फागुन, १९५०

ॐ

तीर्थंकर वारंवार नीचे कहा हुआ उपदेश करते थे-

``हे जीवो ! आप समझें, सम्यक्प्रकारसे समझें। मनुष्यभव मिलना बहुत दुर्लभ है, और चारों गतियोंमें भय है, ऐसा जानें। अज्ञानसे सद्विवेक पाना दुर्लभ है, ऐसा समझें। सारा लोक एकांत दु:खसे जल रहा है, ऐसा जानें, और `सब जीव' अपने अपने कर्मोंसे विपर्यासताका अनुभव करते हैं, इसका विचार करें।'' (सूयगडांग अध्ययन ७ वाँ, ११)

जिसका सर्व दु:खसे मुक्त होनेका अभिप्राय हुआ हो, वह पुरुष आत्माकी गवेषणा करे, और आत्माकी गवेषणा करनी हो, वह यम नियमादिक सर्व साधनोंका आग्रह अप्रधान करके सत्संगकी गवेषणा करे, तथा उपासना करे। सत्संगकी उपासना करनी हो वह संसारकी उपासना करनेके आत्मभावका सर्वथा त्याग करे। अपने सर्व अभिप्रायका त्याग करके, अपनी सर्व शक्तिसे उस सत्संगकी आज्ञाकी उपासना करे। तीर्थंकर ऐसा कहते हैं कि जो कोई उस आज्ञाकी

उपासना करता है, वह अवश्य सत्संगकी उपासना करता है। इस प्रकार जो सत्संगकी उपासना करता है, वह अवश्य आत्माकी उपासना करता है, और आत्माका उपासक सर्व दु:खसे मुक्त होता है। (द्वादशांगीका अखंड सूत्र)

पहले जो अभिप्राय प्रदर्शित किया है वह गाथा सूयगडांगमें निम्नलिखित है :--

संबुज्झहा जंतवो माणुसत्तं दट्ठुं, भयं बालिसेणं अलंभो।
एगंतदुक्खे जरिए व लोए, सक्कम्मणा विप्परियासुवेई।।

सर्व प्रकारकी उपाधि, आधि, व्याधिसे मुक्तरूपसे रहते हों तो भी सत्संगमें रही हुई भक्ति दूर होना हमें दुष्कर प्रतीत होता है। सत्संगकी सर्वोत्तम अपूर्वता हमें अहोरात्र रहा करती है, तथापि उदययोग प्रारब्धसे ऐसा अंतराय रहता है। प्राय: किसी बातका खेद ``हमारे'' आत्मामें उत्पन्न नहीं होता, तथापि सत्संगके अंतरायका खेद प्राय: अहोरात्र रहा करता है। `सर्व भूमि, सर्व मनुष्य, सर्व काम, सर्व बातचीतादि प्रसंग अपरिचित जैसे, एकदम पराये उदासीन जैसे, अरमणीय, अमोहकर और रसरहित स्वभावत: भासित होते हैं।' मात्र ज्ञानी पुरुष, मुमुक्षु पुरुष, अथवा मार्गानुसारी पुरुषका सत्संग परिचित, अपना प्रीतिकर, सुंदर, आकर्षक और रसस्वरूप भासित होता है। ऐसा होनेसे हमारा मन प्राय: अप्रतिबद्धताका सेवन करते करते आप जैसे मार्गेच्छावान पुरुषोंमें प्रतिबद्धताको प्राप्त होता है।

श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत - पत्रांक ४९१। ४९१ पत्रमें सूयगडांग शास्त्रके ७ वे अध्ययनका ११ वाँ श्लोक - ग्यारहवाँ सूत्र अंकित किया है। जो बीचमें है न ! उस सूत्रका अर्थ किया है। श्री ``**तीर्थंकर वारंवार नीचे कहा हुआ उपदेश करते थे...**'' कृपालुदेव को जातिस्मरण ज्ञान था और तीर्थंकरोंके समोसरणमें भी जैसे हमारे जीवको अनेकबार जानेका प्रसंग बना है वैसे उनके जीवको भी बना था। यद्यपि परिभ्रमण करते हुए सर्व जीवोंका - सर्व द्रव्य, सर्व क्षेत्र, सर्व काल और सर्व भाव और भव, ऐसे पाँच परावर्तनका योग बनता (ही) है। उसमें सभी प्रकारके भव आ जाते हैं। सिर्फ़ सम्यक्दृष्टिको प्राप्त होनेवाले भव उसमें नहीं आते हैं। सौधर्म इन्द्र हो या सर्वार्थसिद्धि का भव-ऐसे भव उसमें नहीं आते हैं। इसके अलावा मिथ्यादृष्टिके योग्य सब प्रकारके भव - सब प्रकारके भोगनेके स्थानके क्षेत्र - सभी पुण्य-पापके प्रकार - यह

सब बन चुका है। खुदको (कृपालुदेवको) अनेक भवोंका जातिस्मरण ज्ञान होनेके कारण तीर्थंकर क्या कहते थे ? ये बात उन्होंनें स्मरणमें रखी है। एक सूत्र यहाँ उद्धरण किया है, पहले हम सूत्र ले लें.-

``संबुज्झहा जंतवो माणुसत्तं दट्ठुं भयं बालिसेणं अलंभो।
एगंतदुक्खे जरिए व लोए, सक्कम्मणा विप्परियासुवेई।।''

``हे जीवो ! आप समझें,..'' तीर्थंकरदेव तो करुणाके सागर हैं। सर्व जीवों के प्रति समदृष्टि हैं। अज्ञानके वशात् जीव खुद ही दु:खी होवे इस प्रकारके परिणाम करता है। इसलिए करुणासे उनके वचन निकलते हैं। अभी तो वीतराग हैं इसलिए इच्छा नहीं है; लेकिन तीर्थंकर प्रकृति तो अत्यंत करुणाके कारण बांधी थी। अत: उस वक्त जो कर्मका बंधन हुआ उसका उदय वीतराग दशामें आता है और उस प्रकारसे वचनकी प्रवृत्ति भी होती है।

``हे जीवो ! आप समझें, सम्यक्प्रकारसे समझें।''** समझें माने क्या ? कि आप समाधानको प्राप्त हो। सम्यक्प्रकारसे समाधान को प्राप्त हो। सम्यक्प्रकारसे आप आत्मकल्याणके मार्गमें प्रवेश करो और सम्यक्प्रकारसे आप आत्मकल्याणके मार्गमें आगे बढ़ो। **``मनुष्यभव मिलना बहुत दुर्लभ है,...'' निगोदसे निकलना दुर्लभ है। दो इन्द्रिय होना दुर्लभ है तो संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्यभव मिलना तो अति - अति दुर्लभ है। **``और चारों गतियोंमें भय है, ऐसा जानें।''** चारों गतियोंमें बहुत दु:ख है। ऐसा आप जानें। कहीं सुख है - ऐसा आप न जानें - ऐसा कहते हैं। कदाचित् आपका (अगर) पाँच-पच्चीस वर्षका पुण्य योग हो तो आप उसका अभिमान करने मत लगना।

चारों गतियोंमें बहुत दु:ख है। अत्यन्त दु:ख है। चारों गतिमें दु:खके पहाड़ टूट पड़नेवाले हैं, उनको खयालमें रखना। चारों गतिमें भय है, ऐसा जाने। **``अज्ञानसे सद्विवेक पाना दुर्लभ है,**

ऐसा समझें।'' और आत्मकल्याणकी सूझ आना - अंतर सूझ आना तो बहुत-बहुत दुर्लभ है। जीव अनादि अज्ञानसे इतना ज्यादा घिरा हुआ है और यह अज्ञानता इतनी ज्यादा निबिड़ हो गई है, मिथ्यात्व भी उतना ही निबिड़ हो गया है - कि उसमेंसे निकलनेके लिए अलौकिक - अलौकिक प्रकारका प्रचंड पुरुषार्थ चाहिए और इसीलिए उसमेंसे निकलना, ये बहुत ही दुर्लभ है।

``**अज्ञानसे सद्विवेक पाना....**'' सद्विवेक माने क्या ? (कि) आत्मकल्याणकी सूझ आना-ये बहुत दुर्लभ है, ऐसा समझें। ``**सारा लोक एकांत दुःखसे जल रहा है, ऐसा जानें।**'' ज्ञानीकी दृष्टिमें, भगवानकी दृष्टिमें जगतके सभी जीव त्रिविध तापाग्निमें जलते हुए दिखते हैं। कैसे दिखते हैं ? चारों ओर आग लगी हुई देखते हैं। सभी जीव आधि-व्याधि-उपाधि - तीन प्रकारकी अग्निमें तप्तायमान होकर जल रहे हैं। ``**सारा लोक एकांत दुःखसे जल रहा है, ऐसा जानें, और `सब जीव' अपने अपने कर्मोंसे विपर्यासताका अनुभव करते हैं, इसका विचार करें।**'' और जीवोंको जो विपर्यास होता है, उलटा सूझता है, विपरीत सूझता है उसका कारण यह है कि उसने खुदने पूर्वमें बहुतसे विपरीत अभिप्राय बांध रखें हैं और वर्तमानमें नये विपरीत अभिप्राय ग्रहण करना चालू है, ऐसे आप इसका विचार करें। और हे जीवों ! आप पीछे हटो। उलटे रास्तेसे वापिस आओ। इतनी करुणासे भगवान वीतराग सर्वज्ञ जैन परमेश्वरकी वाणी छूटती है और ऐसी सब बातें अन्दर आती हैं। जो लायक प्राणी हैं वे सीधे हो जाते हैं और जो लायक नहीं हैं, वे उस वक्त भी उलटे ही पड़े रहते हैं और हमारे जीवने भी अब तक यही धंधा किया है।

अनंतबार समोवसरणमें गये, अनंतबार मनुष्यभव मिला, अनंतबार

जैनधर्म मिला और (फिर भी) उलटा चला है। हम पूरे-पूरे उलटे के उलटे चले - शीर्षासन करके चले हैं। ऐसे चले हैं वरना वहाँ डूबनेकी जगह ही नहीं थी। वहाँ पानी इतना कम था कि कोई सीधा तो उसमें डूब नहीं सकता। लेकिन जैसे ६-७ इंच पानीमें कब डूब सकता है कि जब सर उलटा जमीन पर करके (शीर्षासन करके) चले तब, वैसा हमने किया है।

अब द्वादशांगीका एक अखंड सूत्र है। इसका एक पैराग्राफ लिखा है और बादमें खुदके विचार लिखे हैं। ``**जिसका सर्व दु:खसे मुक्त होनेका अभिप्राय हुआ हो, वह पुरुष आत्माकी गवेषणा करे,...**'' जिसको थोड़ासा भी दु:ख नहीं चाहिए, जिसको सदाके लिए - हमेशाके लिए ज़रा भी दु:ख नहीं चाहिए, जिसको हमेशाके लिए सर्व प्रकारसे सुखी होना हो, वैसे तो सभी जीवोंका अभिप्राय सुखी होनेका ही है क्योंकि किसीको भी दु:ख नहीं चाहिए - थोड़ासा भी दु:ख नहीं चाहिए और थोड़े समयके लिए भी दु:ख नहीं चाहिए। मगर होता क्या है ? कि रास्ता उलटा पकड़ लेता है इसलिए कहते हैं कि, ``**जिसका सर्व दु:खसे मुक्त होनेका अभिप्राय हुआ हो, वह पुरुष आत्माकी गवेषणा करे,...**'' और आत्माकी खोज करे। सबसे पहले उसे क्या करना चाहिए ? खुदका जो मूल स्वरूप है, वह कैसा है ? उसकी अपूर्व अंतर जिज्ञासामें आना चाहिए - मेरा स्वरूप कैसा है ? उसकी अपूर्व अंतर जिज्ञासामें आना चाहिए - मेरा स्वरूप कैसा है ? खुदका स्वरुप कैसा है उसका निश्चय हुए बिना कर्तव्य-अकर्तव्यका भान वास्तविकरूपसे नहीं हो सकता है। जीव खुदके स्वरूपको तो जानता नहीं और कर्तव्य-अकर्तव्यकी भांजगड़में उतर जाता है। अत: रस्ता उलटा पकड़ लेता है - ऐसा बनता है।

सबसे पहले यह करना है। एक आत्मज्ञान प्राप्त करने पर ही सर्व दु:ख व सर्व क्लेशसे मुक्त होनेका उपाय उसके हाथ लगता है तो ही उसका इलाज उसको मिलेगा। जो खुदको भूला वह सभी जगह भूला ऐसा कहनेका तात्पर्य है। जो खुदको भूला वह सब भूला है, फिर चाहे भले ही पूरी दुनियाकी समझ करे लेकिन सब व्यर्थ है और प्राय: जीवने ऐसा ही किया है कि खुदके हित-अहितका तो विचार नहीं किया है और पूरी दुनियाकी समझ करने जाता है कि इसको ऐसा होना चाहिए और उसका वैसा होना चाहिए। खुदका तो कुछ विचार ही नहीं चलता है। चौबिस घंटोंमें कुछ विचार नहीं चलता है कि कल मेरा क्या होगा ? (कल यदि) अचानक मेरी आँख बंद (मृत्यु) हो जायेगी तो (मैं) कहाँ जाकर गिरूँगा। इसका विचार कोई नहीं करता।

``**जिसका सर्व दु:खसे मुक्त होनेका अभिप्राय हुआ हो, वह पुरुष आत्माकी गवेषणा करे, और आत्माकी गवेषणा करनी हो, वह...**'' क्या (कहते हैं) ? कि आत्माका जिसको भान करना हो, आत्माकी खोज करनी हो, अंतरखोज करनी हो उसको ``**यम नियमादिक सर्व साधनोंका आग्रह अप्रधान करके...**'' अप्रधान करना माने गौण करना। पहले पूजा-भक्ति कर लूं, पहले उपवास कर लूं, पहले व्रत कर लूं - ये सब अभी एक तरफ रख दे। आशय क्या है ? ऐसा कहते हैं कि ये सब साधन जो हैं वे सब चारित्रमोह मंद करनेके साधन हैं। जब कि भगवानकी जो नीति है, जिनेन्द्र भगवानकी जो नीति है उसमें पहले दर्शनमोहको, मिथ्यात्वको मारनेकी बात है। पू. गुरुदेवश्रीने ४५ साल तक ये एक ही बात की है, कि सम्यग्दर्शन कैसे हो ? और मिथ्यादर्शन कैसे मिटे ? मिथ्यादर्शन और अज्ञान कैसे मिटे ? और सम्यग्दर्शन व सम्यक्ज्ञान कैसे हो ?

कोई भी ज्ञानी हो चाहे पू. गुरुदेवश्री हो, कृपालुदेव हो या कोई भी ज्ञानी हो, सभी यही बात करेंगे। वे ऐसा नहीं कहेंगे कि तू पहले उपवास कर, पाँच उपवासके पच्चखाण ले लें, वैसा नहीं कहेंगे। क्या ? दूसरी बात नहीं करेंगे। तेरा अज्ञान व तेरा दर्शनमोह कैसे मिटे ? तेरा मिथ्यात्व कैसे मिटे ? वह बात हमारे पास है और तीर्थंकरदेवका अखंड सूत्र भी यही है। द्वादशांगी जो है, यानी कि बारह अंग जो है, क्या ? बारह अंग माने ग्यारह अंग और चौदह पूर्व। बारहके बारह अंगमें अखंडरूपसे जो सूत्र है उसकी बात चल रही है। जैसे बारह अंग है वैसे मानो बारह मोती ले लें तो उन सभीके अन्दर जो धागा डाला हुआ है वह अखंड है वैसे ये अखंड सूत्र है। क्या ? कि जिसको आत्माकी गवेषणा करनी हो उसको यम, नियमादि सर्व साधनोंका आग्रह अप्रधान करना। वरना तू तेरी शक्तिको वहाँ रोक लेगा - ये बहुत विवेक करने जैसी बात है।

एक तरफ देखा जाय तो अज्ञानदशामें - मिथ्यात्वदशामें जीवकी आत्मशक्ति विकसित नहीं होती है जब कि अभी तो प्रगट ही नहीं हुई है फिर भी जितना ज्ञानका और वीर्यका क्षयोपशम लेकर तू संज्ञी पंचेन्द्रिय हुआ, तो अब तेरी शक्तिको गलत जगह खर्च मत कर देना। तू दर्शनमोह - मिथ्यात्व और अज्ञानको टालनेमें उसका खर्च करना। जगतके कार्य तो एक तरफ रहे, समाजके कार्य तो एक ओर रहे - संस्थाके कार्य भी एक ओर रहे परन्तु तेरे अपने जो शुभकार्य हैं उनमें भी मत खर्च कर देना - यम-नियमको भी तू गौण कर देना। तू कहीं पर भी खर्च मत करना। एक तेरा अज्ञान व मिथ्यात्व टल जाय वहीं पर तुम्हारी पूरी शक्तिका खर्च करना। एक निष्ठासे, एक लयसे, एक लक्ष्यसे, एक ध्येयसे

और एक धुनसे अगर तू दर्शनमोहको तोड़नेमें, परास्त करनेमें लगेगा तो वह महायोद्धा होनेपर भी ज़रूर मरेगा और थोड़ा भी पैर इधर-उधर हो गया कि समझ लेना कि तू मरा। तेरी शक्ति खर्च हो जायेगी और तेरा आयुष्य इसमें और इसमें ही पूरा हो जायेगा।

यम नियमादिक सर्व साधनोंका आग्रह अप्रधान करके, सत्संगको गवेषना। सत्संगका आराधन करना। सबसे पहले सत्संगका आराधन करना।

प्रश्न : ये गवेषणामें क्या कहना चाहते हैं ?

पू. भाईश्री : गवेषणा अर्थात् खोजना, ज्ञान करना, आराधन करना, ये सब अन्दर आ जाता है।

प्रश्न : सत्संग तो सत्संग है, उसमें गवेषणा का मतलब क्या हुआ ?

पू. भाईश्री : सत्संग तो सत्संग है, यथार्थ सत्संगका आराधन करना। क्या करना ? सत्संगका आराधन करनेकी बात है।

प्रश्न : गवेषणा करना माने जैसे कोई चीज़का Research करके उसे खोजना ?

पू. भाईश्री : हाँ, उसमें क्या है ? कि देखिये बात तो ऐसी है कि ज्ञानियोंने तो Research Final करके हमें प्रश्नका हल करके दे दिया। जगतमें वैज्ञानिक लोग तो जो Research (खोज) करते हैं उसमें उन लोगोंके पास पहलेसे Result नहीं होता। वे लोग तो Necessity (ज़रूरत) को लक्ष्यमें रखते हुए Research (खोज) करते हैं। क्या ? जब कि हमारा तो यह सद्भाग्य है कि ज्ञानियोंने हमारे सामने समस्या और इसका समाधान - सोल्युशन (solution) दोनों एक साथ दे दिये हैं। इसके बावजूद भी Research तो हमें (ही) करना होगा। उन्होंने जो-जो पद्धतिमें Research किया - उसी

प्रकारसे हमें भी Research करना होगा, वरना रटन करने जैसा हो जायेगा। स्वाध्यायका विषय भी एक Routine (रूढ़ि) हो जायेगा और सिर्फ़ धारणा करके रटन करने जैसा हो जायेगा। जैसे कोई सामायिक लेकर बैठता है वैसे हम एक घंटा स्वाध्यायमें बैठके वापिस आ गये, फिर घर पहुँचते ही वही का वही करने लगे। क्या ? कि ये घर मेरा, ये परिवार मेरा, और ये आरम्भ-परिग्रह मेरे। इन सबमें कि जहाँ सफ़ाई करनेकी ज़रूरत है वह तो करे नहीं और यहाँ आकर स्वाध्याय करें तो वह बेकार ही जायेगा। इस विषयमें कलके स्वाध्यायमें तो काफ़ी बातें चली थी।

क्या कहते हैं ? कि उसको सत्संगकी गवेषणा करनी चाहिए। इसका अर्थ क्या हुआ ? कि दूसरे जो धर्मसाधन कहे जाते हैं उनमें सत्संगकी प्रधानता है। अज्ञान व मिथ्यात्व टालनेका साधन सत्संग है। इसलिये पू. गुरुदेवश्रीने स्वाध्यायकी जो प्रणालिका है, कि जो तीर्थंकरकी परम्परामें है, उसको जागृत किया।

वैसे देखा जाय तो अभी भी पुराने दिगम्बर मंदिरोंमें, राजस्थान आदिमें और जहाँ-जहाँ बड़े अच्छे मंदिर हैं वहाँ देव-दर्शनके साथ-साथ स्वाध्याय करनेकी भी एक अलग व्यवस्था होती है। और जब अच्छा काल था तब तो स्वाध्यायकी सभाएं भराती थी। अभी वह सब कुछ लुप्त प्राय: जैसा हो गया। पू. गुरुदेवश्री युगपुरुष हुए, तो उन्होंने वापिस स्वाध्यायकी परम्परा शुरू की और तबसे हमारे गाँव-गाँवमें स्वाध्याय होने लगा था। अब `था' ऐसा कहना पड़ता है क्योंकि अभी वापिस सब बंद होने लगा है। क्या ? और वापिस पूजा - भक्तिकी रूढ़िमें और दूसरी - दूसरी रूढ़िमें हमारे यहाँ लोग चढ़ने लगे हैं। स्वाध्याय गौण होने लगा है। अभी हमारे ज़्यादातर मंडलोंमें स्वाध्याय नहीं हो रहा है। पुराने मंडल हैं उनमें पुराने

मुमुक्षु जो हैं उन्हें-किसीको रस नहीं रहा; क्योंकि सब ऐसे ख़यालमें हैं कि ये सब हमें मालूम है और हम ये जानते हैं कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता है, ऐसा पू. गुरुदेवश्रीने हमें समझाया है। और हमें सब कंठस्थ है। किसीको रस नहीं पड़ता है - ऐसी हालत है। सभी जगह परिस्थिति बहुत ही करुणाजनक (हो चुकी है) - स्वाध्यायमें दरिद्रता आ गई। क्या हुआ? दरिद्रता आ गई। यह हमारा धर्मदारिद्र है कि नाम तो पू. गुरुदेवश्रीका लें और पू. गुरुदेवश्रीकी आज्ञाके विरुद्ध ही चले। ऐसा होने लगा है। कोई स्वाध्यायमें नहीं आ रहे हैं। कुछएक जगह पू. गुरुदेवश्रीकी टेप लगाते हैं तो उसमें भी दो जन, तीन जन, ऐसी हालत टेपमें भी हो चुकी है। मानो जैसे किसीको तत्त्वज्ञानमें रस ही नहीं रहा। और अभी अगर आप एक विधान लगाके देखो तो पूरा मेला लग जायेगा। पूजाके लिये सीटका Reservation करनेमें लग जायेंगे, और उसमें तो सौ, पच्चास, दोसौ-पाँचसौ लोग आ जायेंगे। सत्संग और स्वाध्यायकी प्रणालिका जो पू. गुरुदेवश्रीने शुरू की थी अब वापिस हमारे यहाँ लुप्त प्राय: होने लगी है।

श्रोता : स्वाध्यायकी अग्रिमता थी ?

पू. भाईश्री : अरे ! कोई पूजामेंसे उठकर स्वाध्यायमें देरसे आये तो गुरुदेवश्रीकी आँख लाल हो जाती थी। पू. गुरुदेवश्रीके प्रवचनमें कोई देरीसे आये और अगर पू. गुरुदेवश्रीको मालूम पड़े कि पूजामें रुक गये थे तो पू. गुरुदेवश्री लाल आँख करते थे और कहते थे कि दो बार स्वाहा कम करना लेकिन यहाँ पर (स्वाध्यायमें) बराबर वक्त पर आ जाना। और वही बात कृपालुदेव करते हैं। पू. गुरुदेवश्री जो बात वजन देकर करते थे वही बात कृपालुदेव करते हैं कि सत्संगकी गवेषणा करना और उपासना करना,

गवेषणा करना एवं उपासना करना, आराधन करना। सत्संगमें जो-जो बातें खुदके योग्य, खुदके लायक और स्वयंको लागू होती हो, उसे प्रयोगमें रखना। घर जाकर, दुकान पर जाकर, नौकरी पर जाकर, या ऑफिसमें जाकर, जहाँ जिसको जानेका उदय हो वहाँ जाकर उसे लागू करना चाहिए तब तो वह सत्संगकी उपासना है - उसको सत्संगकी उपासना कहा जाता है वरना तो सुनकरके उन बातोंको वहीं के वहीं छोड़ देना होता है और वापिस सत्संगको निष्फल करने लगते हैं ऐसी परिस्थिति होती है। अत: ऐसा नहीं करके इसकी गवेषणा करना और उपासना करना।

``**सत्संगकी उपासना करनी हो वह संसारकी उपासना करनेके आत्मभावका सर्वथा त्याग करे।**'' बोलिये ! इसमें उन्होंने क्या कहा ? एक द्वादशांगीके अखंड सूत्रमें इतनी सारी बातें रख दी हैं, इतनी सारी बातें रख दी हैं कि अगर तुझे सत्संगकी उपासना करके, आत्माकी गवेषणा करनी हो और आत्मज्ञान प्राप्त करके उसके फलमें सर्वथा सुखी होना हो तो हमारी एक शर्त है - सत्संगसे बातको कहाँ जोड़ी ? कि सत्संगकी गवेषणा, उपासना और आत्माकी गवेषणा करके, आत्मज्ञान करके तुझे सम्पूर्ण सुखी होना हो तो यह हमारी शर्त है कि संसारकी उपासना करनेके आत्मभावको सर्वथा छोड़ देना - कि ये संसार मुझे किसी भी कीमत पर नहीं चाहिए। जिसको संसार प्रिय और मीठा लगता हो, मिली हुई अनुकूलता प्रिय लगती हो उसके लिये संसारसे निकलनेका कोई उपाय नहीं है।

ये संसार केवल दु:खमय है। सभी जीव एकांत दु:खमें जल रहे हैं - ऐसी जो भगवानकी दृष्टि, उस दृष्टिसे देखना सीखना होगा। उस दृष्टिसे देखना जिस दिन होगा, उस दिन संसारका ध्येय छूट जायेगा। ``**सर्वथा त्याग करे**'' उसका मतलब क्या हुआ ?

सर्वथा त्याग करनेमें यहाँ पर ऐसा नहीं कहना है कि आप स्त्री, पुत्र, दुकान, व्यापार-धंधा, नौकरी आदिको छोड़कर जंगलमें या किसी आश्रममें जाकर एक तरफ बैठ जाओ। ऐसा कहनेका कोई आशय नहीं है। आपका ध्येय बदल दो-ऐसा कहते हैं, क्या ? ``आत्मभावका (अभिप्राय) सर्वथा त्याग करे।'' वस्तुका त्याग करनेकी बात नहीं की है। क्या ? इस संसारमें अपनत्व जो है, कि ये संयोग मेरे, ये कुटुम्ब मेरा, ये पैसे मेरे, ये मकान मेरा, ये इज़्ज़त मेरी, ये समाज मेरा - ये सब तू छोड़ दे। यही सब तेरा संसार है। क्या ? उसमेंसे आत्मभाव यानी कि अपनत्व तू छोड़ दे। सर्वथा छोड़ दे, इसका मतलब कि थोड़ा भी रखकर बाकीका छोड़ देवे - ऐसी छूटछाट इसमें नहीं हो सकती। त्यागमें ऐसा हो सकता है, आचरणमें ऐसा हो सकता है - कि आप थोड़ा त्याग करे थोड़ा नहीं करे। मोक्षमार्गमें भी पंचम गुणस्थानमें क्रमसे त्याग शुरू होता है। वह बात इधर नहीं करते हैं। यहाँ पर तो `**सर्वथा**' शब्दका प्रयोग किया है यानीकि तेरा पूरा ध्येय (लक्ष्य) बदल दे। (और) ध्येयमें कभी छूटछाट नहीं हो सकती।

पू. गुरुदेवश्रीने जो सूत्र दिया है कि ``**पूर्णताके लक्ष्यसे शुरूआत वही वास्तविक शुरूआत है।**'' -और कृपालुदेवने (श्रीमद् राजचंद्र) उसे `**दृढ़ मुमुक्षुता**' कही, `**मात्र मोक्ष अभिलाष**' - ये मात्र मोक्ष अभिलाष, वह ध्येयका विषय है। यहाँ इस ध्येयके बिना तेरी मुमुक्षुता की शुरूआत (भी) नहीं होगी, फिर मोक्षमार्ग तो बहुत दूरकी बात है। मुमुक्षुता आनेके बाद, मुमुक्षुता वर्धमान होनेके बाद, मुमुक्षुता निर्मल होनेके बाद - चरमसीमा पर पहुँचनेके बाद मोक्षमार्गमें प्रवेश मिलता है। इतनी तो पूर्व तैयारी है; क्योंकि ये नीवका (मूलभूत) विषय है। इतनी नीव डालनेके बाद मोक्षमार्ग शुरू होता है। परन्तु

ये नीवकी जो शुरूआत है, अथवा मोक्षका शिलान्यास जिसे कहते हैं उसमें सबसे पहले ध्येय बदलना पड़ता है। जब तक ध्येय नहीं बदलता है तब तक इस जीवका अनादि संसारका ध्येय चल ही रहा है और ध्येय दो प्रकारके ही होते हैं - एक संसार या दूसरा मोक्ष, तीसरा कोई ध्येय नहीं है। या तो जीव सर्वथा संसारकी उपासना करता है या तो जीव सर्वथा मोक्षकी उपासना करता है। उसमें आधी संसारकी उपासना और आधी मोक्षकी उपासना, ऐसा नहीं चलता। ध्येयमें ऐसा नहीं चलता। ये तो दो घोड़ेकी सवारी जैसा हुआ, उसमें तो नीचे ही गिरेगा। जिसको संसारके घोड़े पर भी बैठना है और मोक्षमार्गके घोड़े पर भी बैठना है - वह दोमें से कहींका नहीं रहेगा, क्या ?

क्या कहते हैं ? कि ``**सत्संगकी उपासना करनी हो वह...**'' क्या ? इस सत्संगमें तो ही प्रवेश मिलेगा - ऐसा कहते हैं। हररोज़ आते हो इसलिये आप `एडमीटेड फेलो' (प्रवेश प्राप्त व्यक्ति) हो ऐसा नहीं है। नहीं आते हैं उनकी तो चर्चा नहीं करनी है, लेकिन जो हररोज़ आते हैं, नियमित आते हैं, समयपर उपस्थित रहते हैं, और बहुमानपूर्वक सुनते हैं फिर भी हमारी यह शर्त है कि तुझे ध्येय बदलना होगा। ध्येय बदलना होगा ! तब तो तेरे प्रवेशको हम स्वीकार करते हैं, जब कि अगर तुझे ध्येय नहीं बदलना हो तो हम तो तुम्हारा मुमुक्षुतामें प्रवेश हुआ (भी) नहीं स्वीकार करते हैं। ये ज्ञानियोंके Signature (हस्ताक्षर) हैं। प्रवेश देनेकी Authority (सत्ता) ज्ञानियोंकी है। वे तब ही हस्ताक्षर करते हैं। तुझे ध्येय बदलना हो तो ही आना, तो ही सत्संगकी उपासनाके हेतुसे तू आ रहा है ऐसा हम मानेंगे, वरना तू सत्संगमें आ रहा है - यह बात हमारी नज़रमें तो नहीं है, हाँ ! तू सत्संगमें आ रहा है, हररोज़ आ

रहा है इसलिये ठीक है, ऐसा नहीं चलेगा, क्या (समझे) ?

सत्संगकी उपासना करनी हो उसे संसारकी उपासना करनेके आत्मभावका सर्वथा त्याग करना कि मुझे ये संसार नहीं चाहिये, किसी भी कीमत पर नहीं चाहिए। पत्रांक - १२८में लिया ना ! देखिये १२८ पत्रमें क्या शब्द लिखे हैं ? फिरसे याद कर लें कि कृपालुदेवने मुमुक्षुताकी नीव कैसी डाली है ? पन्ना - २२५, दूसरा पेराग्राफ ``**चाहे जो हो, चाहे जितने दुःख सहो, चाहे जितने परिषह सहन करो, चाहे जितने उपसर्ग सहन करो, चाहे जितनी व्याधियाँ सहन करो, चाहे जितनी उपाधियाँ आ पड़ो, चाहे जितनी आधियाँ आ पड़ो, चाहे तो जीवनकाल एक समय मात्र हो, और दुर्निमित्त हो, परन्तु ऐसा करना ही।**'' ऐसा करना माने मोक्षमार्ग पर ही जाना और संसार किसी भी कीमत पर मुझे नहीं चाहिए - ऐसा जो ध्येय है ``**तब तक हे जीव ! छुटकारा नहीं है।**'' ये शिलान्यास किया है। मोक्षमहलका शिलान्यास इस प्रकार किया है। मोक्षका महल ऐसे ही कोई कच्ची नीव पर नहीं खड़ा रहता। जो मोक्ष सादी अनन्तकाल टिकनेवाला है, उसका शिलान्यास कितना मज़बूत होना चाहिए ? कि इतना मज़बूत होना चाहिए। मुमुक्षु इतनी तैयारीवाला होना चाहिए। मुमुक्षुतामें आना कोई अैरे-गैरेका काम नहीं है, क्या ? जैसे-तैसेका काम नहीं है, बल्कि सर पर कफ़न बाँधकर निकलनेवालेका काम है, क्या ? मरजीवा होकर कि चाहे कुछ भी हो जाय ``**कथमपि मृत्वा कौतूहली सन**'', श्री अमृतचंद्राचार्यने समयसारजीमें लिया है कि मरके भी मुझे लेना है। मर भी जाऊँ अगर तो भी मुझे लेना है, लेकर ही रहूँगा - उसका (ही) काम है।

क्या कहते हैं ? कि ``**... वह संसारकी उपासना करनेके**

आत्मभावका सर्वथा त्याग करे। अपने सर्व अभिप्रायका त्याग करके, अपनी सर्व शक्तिसे उस सत्संगकी आज्ञा की उपासना करे।'' दूसरा कुछ नहीं करना बल्कि सत्संगमें ज्ञानीपुरुषकी जो आज्ञा हुई, गुरुदेवकी जो आज्ञा हुई, इसके आगे मेरे सभी अभिप्राय मुझे छोड़ ही देना है। मुझे पूरी शक्तिसे आज्ञाका आराधन करना है। पूरी की पूरी शक्ति मुझे वहाँ खर्च करनी है। इसके अलावा दूसरे कहीं पर भी मुझे शक्ति खर्च नहीं करनी है, मेरा कोई अभिप्राय नहीं, मैं कुछ जानता नहीं हूँ, कुछ समझता नहीं हूँ, बल्कि पूरा का पूरा अज्ञानी हूँ। मैं कुछ नहीं जानता और कुछ नहीं समझता, इस परिस्थितिमें आ जाना होगा और ``**सत्संगकी आज्ञाकी उपासना करे।**''

``**तीर्थंकर ऐसा कहते हैं कि जो कोई उस आज्ञाकी उपासना करता है, वह अवश्य सत्संगकी उपासना करता है।**'' सत्संगमें तो बैठे लेकिन अगर आज्ञाको न माने वह सत्संगकी उपासना नहीं करता है। और ``**इस प्रकार जो सत्संगकी उपासना करता है, वह अवश्य आत्माकी उपासना करता है,...**'' ये निमित्त परसे उपादान पर आ गये। ``**और आत्माका उपासक सर्व दुःखसे मुक्त होता है।**''

पू. गुरुदेवश्रीने परमागमसार - ८३१ में कहा कि जो सच्चे निमित्तकी उपासना करता है, वह निमित्तकी उपासना नहीं करता है, बल्कि आत्माकी उपासना करता है। निमित्तके बहाने इसप्रकार जो उलटा चलता है, वह वास्तवमें निमित्तको - व्यवहारको भी समझा नहीं है और निश्चयको भी समझा नहीं है। इसलिए क्या कहा ? कि इसप्रकार सत्संगकी उपासना करता है, वह अवश्य आत्माकी उपासना करता है। उस भूमिकाकी वह आत्म-उपासना है। क्या

कहा ? कि उस भूमिकाकी वह आत्म-उपासना है। यथार्थरूपसे सत्संगकी उपासना करना वह मुमुक्षुकी भूमिकाकी आत्म-उपासना है। क्योंकि वहींसे आत्म-उपासना तक पहुँचा जायेगा, इसके सिवा दूसरा कोई रास्ता नहीं है। एक ही Channel (चेनल) है, दूसरा कोई चेनल नहीं है। ``**और आत्मका उपासक सर्व दुःखसे मुक्त होता है।**'' उसका आखरी फल लिया मोक्ष। सर्वकालके लिये अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त सुख सहित अनन्तकाल पर्यंत सिद्ध-समाधिदशामें रहनेको मिले - यह उसका फल है, वह उसका आखरी फल है।

कृपालुदेवने १७ सालकी उम्रमें जो १२८ वचन लिखे हैं उसमें १०८ से ११७ वचनके जो दस वचन हैं उनका पू. गुरुदेवश्री रोज़ सुबह परिचर्यन करते थे। ४७ शक्तिओंका जैसे परिचर्यन करते थे वैसे इन दस वचनोंका भी परिचर्यन करते थे और कुछएक परमागमोंकी गाथाएँ जो खुदको प्रिय थीं, उन गाथाओंका भी परिचर्यन सुबह-सुबह साड़े तीन-चार बजे उठकर करते थे।

(पू. गुरुदेवश्रीको) करीब ७८ की सालमें यानी कि उनकी करीब ८८ सालकी उम्रमें उन्हें एक विचार आया कि सारे जीवनमें मैंने जो कुछ भी स्वाध्याय किया है, और उन हज़ारों शास्त्रोंका स्वाध्याय करनेके बाद जो निचोड़रूप बातें थी, जो सारभूत मक्खन था उसके पर उन्होंने १४३ प्रवचन किये। कितने ? १४३ प्रवचन। विषय Select (पसंद) करके, खुदने पसंद करके - अपनी भावनाका जो विषय था, पसंदगीका जो विषय था, और आत्मकल्याणका जो विषय था, उस पर १४३ प्रवचन उन्होंने किये। उसमेंसे हमने करीब ६२ प्रवचन ३१-३१ प्रवचनके दो भाग, ``**प्रवचन नवनीत**'' में प्रकाशित किये हैं, तीसरा भाग अभी तैयार हो रहा है। भाग - १में कृपालुदेवके

वचन पर जो प्रवचन हैं जो कि कृपालुदेवने १७ सालकी उम्रके पहले लिखे हुए वचन हैं, उसमें पू. गुरुदेवश्री ऐसा बोले हैं कि 'ये बारह अंगका सार है।' क्या है ? बारह अंगका सार है। अभी भी टेपमें मौजूद है और ग्रंथमें भी है। यह Documentry Proof (ठोस सबूत) है। १७ सालकी उम्रके पहले इस महापुरुषके पास बारह अंगका सार आया कहाँसे ? ये एक विचार में डाल दे ऐसा विषय है। जब गुरुदेवश्री बोले हैं। तो हमारे लिये तो बात टंकोत्कीर्ण हो गई। उसमें कोई शंकाका स्थान ही नहीं उठता, या कोई दलीलबाज़ीका विषय ही नहीं रहता। अब उनके पास सत्रह सालके पहले अर्थात् पंद्रह, सोलह सालकी उम्रमें बारह अंगका सार उनके हृदयमें - आत्मामें आया कहाँसे ? कि वे स्वयं पूर्वके आराधक पुरुष थे, आराधना लेकर आये थे इसलिये। भले ही उस वक्त उन्हें सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं था - ये पू. गुरुदेवश्रीको मालूम होते हुए भी गुरुदेवश्री ऐसा बोले हैं, क्योंकि उन्हें अन्दरसे भाव भासित हुआ उन्होंने सिर्फ़ शब्दार्थ नहीं किया था। गुरुदेवश्रीने सिर्फ़ शब्दार्थ नहीं किया है बल्कि कृपालुदेवके आत्मामें रहे भावका दर्शन किया है और उस भावको पढ़ते हुए उन्होंने ऐसा कहा कि कृपालुदेवके इस वचनोंके गर्भमें बारह अंगका सार रहा है। उनके वचनोंके गर्भमें यह वस्तु रही है ऐसा हमें दिखता है।

श्रोता : आत्मसिद्धि शास्त्र पर प्रवचन किये वह तो मास्टर पीस (Master Piece) है।

पू. भाईश्री : पू. गुरुदेवश्रीने उन्हें उपकारी गिना हैं। उन्होंने ऐसा भी कहा है कि ये सिर्फ़ मेरे उपकारी हैं इतना ही नहीं बल्कि आप सभीके उपकारी हैं। प्रवचन करते-करते बोले थे कि आज जो आप सभीके हाथमें श्री समयसारजी (ग्रंथ) है, उसका

श्रेय - (कृपालुदेवका) उपकार है। इस कल्याणके प्रयोजक वे हैं। इतनी हद तक कृपालुदेवका उपकार गाया है, क्या ?

यहाँ पर (चलते हुए विषयमें) बारह अंगका द्वादशांगीका अखंड सूत्रके रुपमें, बारह अंगके सारभूत इतने वचन लिखे हैं। जो मुमुक्षुआत्माओंके लिये एकदम प्रयोजनभूत है।

अब आगे अपने परिणामोंकी कुछएक बातें करते हैं कि ``**सर्व प्रकारकी उपाधि, आधि, व्याधिसे मुक्तरूपसे रहते हों तो भी सत्संगमें रही हुई भक्ति दूर होना** (**छूटनी**) **हमें दुष्कर प्रतीत होती है।**'' अपनी बात करते हैं। `हमें' मतलब अपनी बात करते हैं कि वैसे तो भले ही बम्बईसे ये बात करते हैं, फिर भी सभी प्रकारकी उपाधि और आधि-व्याधिसे एकदम मुक्तरूपसे रहते हैं। हमें कुछ भी लेना-देना नहीं है।

यहाँ बैठे हैं वह पूर्वकर्मका कर्ज़ चुकानेके लिये बैठे हैं बाकी कुछ लेनेको नहीं बैठे हैं परन्तु देनेको बैठे हैं। बाकी हम तो मुक्तरूपसे रहते हैं। क्या ? इस तरह वैसे उदयके प्रसंगोंसे भिन्न ही हो चुके हैं फिर भी सत्संगके लिये रही हुई हमारी भक्ति, वह हमें मिटनी दुष्कर प्रतीत होती है। सत्संग हमें प्रिय है सिर्फ़ इतना नहीं लिखा बल्कि ऐसा लिखा है कि सत्संगकी हम भक्ति करते हैं। उपकारीभावसे कितना बहुमान है उन्हें !! सत्संगके प्रति कितना बहुमान है उन्हें !! वरना स्वयं तो ज्ञानीपुरुष हैं, कोई मुमुक्षु नहीं है। २७ सालकी उम्रमें पत्र लिखा है। क्षायिक जैसा निर्मल समकित - शुद्ध समकित प्रगट हो चुका है, और अन्दरसे एकदम भिन्न हो चुके हैं। २७ सालकी युवान उम्र है, कितनी ? २७ सालकी युवान उम्र है; लेकिन हमें नही कुछ लेना या देना !! लेकिन हमें तो सत्संगकी भक्ति है।

कैसी भक्ति है ? मालूम है ? देखिये ! आपको अगर Reference (अनुसंधान) देखना हो तो पत्रांक - ५३९ में है। पन्ना है ४४३। ``**अन्य पदार्थमें यदि जीव निजबुद्धि करे तो...**'' दूसरा पदार्थ माने जो दूसरा पदार्थ है उसमें, प्रारब्धके कारण जो भी संयोग प्राप्त हुए हैं उसमें अपनत्वकी बुद्धि करे ``**...करे तो परिभ्रमणदशा प्राप्त करता है, और निजमें निजबुद्धि हो तो परिभ्रमणदशा दूर होती है।**''

अब जिसको परिभ्रमणसे छूटना है उसकी बात करते हैं कि ``**जिसके चित्तमें ऐसे मार्गका विचार करना आवश्यक है उसको, जिसके आत्मामें वह ज्ञान प्रकाशित हुआ है,...**'' ऐसे जो ज्ञानीपुरुष ``**उसकी दासानुदासरूपसे अनन्य भक्ति करना ही परम श्रेय है;...**'' दासानुदासरूपसे भक्ति करनेमें तर्क-वितर्क नहीं होते। उसमें कहीं पर भी तर्क-वितर्क नहीं होते। आप महापुरुष तो ज़रूर हैं लेकिन हमारे घर मत आना, कहीं और बिराजमान होना। ऐसा इसमें नहीं होता, समझे ! आप महापुरुष ज़रूर हैं, हमारे बाप-दादाके वक्तसे आप महापुरुष हैं लेकिन फिर भी आप यहाँ बिराजमान मत होना ! बल्कि कहीं ओर जगह बिराजमान होना, ऐसा इसमें (भक्तिमें) नहीं होता। अनन्यभक्ति माने अनन्यभक्ति ही होती है, समझे ? बाकी उसमें तो अनादर और अपमान है। वह अनजानेमें जीव कर बैठता है - जो कि विराधना है। ऐसा नहीं होना चाहिए।

जिसके चित्तमें ऐसे मार्गका विचार करना आवश्यक है उसको, जिसके आत्मामें वह ज्ञान प्रकाशित हुआ है, उसकी दासानुदासरूपसे अर्थात् उसके दासकी भी भक्ति करना, उनकी (ज्ञानीपुरुषकी) जो भक्ति करता हो उसकी भक्ति करना। सिर्फ़ उनकी भक्ति करना इतना नहीं बल्कि उनकी भक्ति जो करता हो उसकी भी भक्ति

करना। उनका अनादर तो मत करना परन्तु उनकी भक्ति करनेवाला हो उसका भी अनादर नहीं करना - ऐसा कहते हैं। और उसमें ही तेरा कल्याण है। उसमें ही तेरा परम कल्याण है।

``**और उस दासानुदास भक्तिमानकी भक्ति प्राप्त होनेपर...**'' अब ज्ञानी कैसे होते हैं ? अब ज्ञानी की बात करते हैं। अब मुमुक्षुकी बात नहीं करते हैं। कि वैसा जो दासानुदास हो उनकी भक्ति, वैसे जो भक्तिवान हो, उसकी भक्ति फिर ज्ञानी करे, क्या ? उसकी भक्ति प्राप्त होनेपर ``**जिसमें कोई विषमता नहीं आती,...**'' अर्थात् मान-अपमानका विकल्प नहीं आता। हमारे यहाँ तो ज्ञानी-ज्ञानी के बीच मान-अपमानका विकल्प लोग करते हैं, जब कि यहाँ पर तो ज्ञानीको मुमुक्षुके प्रति मान-अपमानका विकल्प नहीं आता है। ``**जिसमें कोई विषमता नहीं आती, उस ज्ञानीको धन्य है;...**'' ज्ञानीपुरुष तो ऐसे होते हैं।

कृपालुदेवने सौभाग्यभाईको नमस्कार किया, कृपालुदेवने सौभाग्यभाईके चरणस्पर्श किये और पू. गुरुदेवश्रीने पू. सोगानीजीको नमस्कार किये, क्यों ? कि `ये मेरा शिष्य है और मैं इसका गुरु हूँ, क्योंकि वह मेरेसे आत्मज्ञानको प्राप्त हुए हैं' उस बातको भी वे मुख्य नहीं करते हैं। (जब ऐसा है तो) फिर (सोचो तो सही) कि अपने उपकारीके प्रति वे कितनी भक्ति करते होंगे ? कृपालुदेवने उनको (सौभाग्यभाईको) उपकारी माना है। जिसको खुदके कारण आत्मज्ञान हुआ है ऐसे जो निहालचंद्रजी सोगानी, जब उनको भी (गुरुदेवश्रीने) नमस्कार किया है तो अपने उपकारीके प्रति उन्हें (गुरुदेवश्रीको) कितनी मात्रामें भक्तिभाव होगा !! और कृपालुदेवका भक्तिभाव कितना ? कि दासानुदास, जो भक्तिमान है उसकी भक्ति की, और वैसी भक्ति करते हुए भी जिसको विषमता नहीं आयी

तो वैसे ज्ञानी तो धन्य है ! उस ज्ञानीको नमस्कार है। ``**उतनी सर्वांशदशा जब तक प्रगट न हुई हो तब तक आत्माकी कोई गुरुरूपसे आराधना करे,...**'' अर्थात् मोटाई करे - सलाह लेने आये तो ``**वहाँ पहले उस गुरुपनेको छोड़कर उस शिष्यमें अपनी दासानुदासता करना योग्य है।**'' ऐसे महानता आती है। इतनी नम्रता होती है तब जाके महानता आती है वरना तब तक गुरुपनेकी महानता नहीं आती है। इस प्रकारकी नीवकी बातें कृपालुदेवने की हैं कि कौन गुरु हो सकता है ? कि जिसकी इतनी महानता होती है, नम्रता होती है, वह गुरुपदके लायक होता है।

गुरु कभी खुदको गुरुके रूपमें नहीं मानते। शिष्य भले ही कुछ भी मानता हो, गुरु ऐसा नहीं मानते-ऐसी बात है। ``**सारे जगतके शिष्य होनेकी दृष्टि जिसने वेदी है वह गुरु बननेके लायक हैं।**'' बहुत सी बातें की हैं। अलग-अलग जगह पर बहुत सी बातें लिखी हैं।

श्रोता : एक ज्ञानीकी विराधनामें सभी ज्ञानीकी विराधना होती है क्या ?

पू. भाईश्री : हाँ, अनन्त ज्ञानियोंकी विराधना होती है। भूलसे भी एक ज्ञानीकी विराधना होती है तो उसमें अनन्त ज्ञानियोंकी विराधना हो जाती है। कोई अगर ऐसा कहे कि - नहीं, नहीं हम तो यह ज्ञानीकी भक्ति करते हैं, तो कहते हैं कि - वह भक्ति स्वच्छन्दवाली है। वह स्वच्छन्दवाली भक्ति है। स्वच्छन्दनिरोध भक्ति वह यथार्थ भक्ति है। भक्तिका विशेषण क्या है ? कि स्वच्छन्दनिरोध भक्ति। स्वच्छन्दवाली भक्ति वह वास्तवमें भक्ति है ही नहीं।

श्रोता : ज्ञानियोंने सभी पहलुओंसे चौकन्ना किया है।

पू. भाईश्री : हाँ ! - चारों पहलुओंसे खुलासा कर दिया है।

क्या कहते हैं ? कि हमारी सत्संगके प्रति रही हुई भक्ति मिटना मुश्किल है। उस सत्संगके प्रतिकी हमारी भक्ति नहीं मिटती है। दूसरे कहीं पर हमें लगाव नहीं है। हमारे व्यवसाय-धंधेमें, कुटुम्बमें, हमें कहीं पर भी लगाव नहीं है। सत्संगके प्रति हमारी जो अपूर्व भक्ति है उस ``**सत्संगकी सर्वोत्तम अपूर्वता...**'' उस सत्संगकी सर्वोत्तम अपूर्वता, सिर्फ़ अपूर्वता इतना नहीं लिया ``**अहोरात्र**'' रात और दिन ``**हमें अहोरात्र रहा करती है,...**'' हमारे परिणामकी ऐसी स्थिति है। सत्संग, सत्संग, सत्संग इसके सिवा हमारे परिणाममें दूसरी बात नहीं है। अन्दरमें हमारी आत्मा और बाहरमें सत्संग। बस ! ये दो ही हमारे जीवन हैं तीसरा हमारे जीवनमें कुछ है नहीं।

``**तथापि उदययोग प्रारब्धसे ऐसा अंतराय रहता है।**'' निवृत्तिक्षेत्रमें जाकर सत्संगको चाहते थे उसमें अंतराय रहता था। सालभरमें मुश्किलसे एक-दोबार, ज़्यादासे ज़्यादा दो वक्त निवृत्ति लेकर व्यापार-धंधा छोड़कर, कुटुम्ब छोड़कर, अकेले निकल जाते थे। खुद निवृत्तिक्षेत्रमें निकल जाते थे। ``**सत्संगकी सर्वोत्तम अपूर्वता हमें अहोरात्र रहा करती है, तथापि उदययोग प्रारब्धसे ऐसा अंतराय रहता है।**'' निरंतर सत्संगको चाहते हुए भी हमें अंतराय रहता है। देखिये ! ये पूर्वकर्म कैसा काम करता है ? महापुरुष हैं, ज्ञान हुआ है, एकावतारी पुरुष हैं (फिर भी) सत्संग नहीं मिल रहा है, प्रारब्ध को सहन करना पड़ता है - तो सत्संगके बगैर मुमुक्षुकी तो क्या दशा हो जाय ? ये विचार करने योग्य विषय है।

पू. गुरुदेवश्री जैसे गुरुदेव, बहनश्री जैसे धर्मात्माएं पूर्वमें सीमंधर भगवानके समवसरणमें प्रत्यक्ष उपदेशका श्रवण करते थे, सत्संग करते थे वहाँ। सत्संगकी आराधना करते थे। श्वेताम्बरका वहाँ नामो-निशान नहीं था। महाविदेहक्षेत्रमें एक ही धर्म है। दिगम्बर मुनिओं - दिगम्बर

धर्म के अलावा दूसरा कोई संप्रदाय या पंथ वहाँ कुछ नहीं है, बाहर में, हाँ ! अन्दरमें किसीको कैसा भी विपरीत अभिप्राय हो जाय यह एक दूसरी बात है। (वहाँ) तीनोंकाल एक सनातन धर्म चलता है। सनातनका मतलब होता है - तीनकाल। तीनोंकाल एक ही धर्म चलता है तो भी विकल्प आ गया और सभी की एक जैसी अनुमोदना हो गई - अब देखें तो ये बात हमें तो सामान्य लगे कि इसमें क्या है ? आत्मा और परपदार्थ, परमाणु और जीव तो भिन्न-भिन्न है, तो शरीर पर कपड़ा हो तो भी क्या हुआ और नहीं हो तो भी क्या हुआ ? मुनिको कहाँ कुछ लेना - देना है। उसमें मुनिदशाको तो कोई बाधा नहीं होती। क्योंकि वह तो शरीर है, कपड़ा सहितपना (हो तो क्या तकलीफ़ है ?) कितनी सामान्य बात हमको लगे लेकिन (इसके फलमें) सभी यहाँ आ गये। श्वेताम्बर स्थानकवासीमें आ गये। श्वेताम्बरमें भी स्थानकवासीमें सब आ गये। गुरुदेवश्री ऐसा कहते थे कि दिगम्बरमें से विपर्यास हुआ तब उसमेंसे मूर्तिपूजक श्वेताम्बर हुए फिर और विपर्यास बढ़नेसे उसमेंसे स्थानकवासी हुए और उसमें विपर्यास बढ़ा तब ये तेरापंथी जो चल रहा है-वह निकला, अभी स्थानकवासीमें भी ये नया पंथ निकला है।

श्रोता : गुरुदेवश्री मूलमें स्थानकवासी ?

पू. भाईश्री : हाँ ! मूलमें स्थानकवासी। वहाँ तो उन्होंने दीक्षा ली थी। साधु होनेके बाद परिवर्तन किया था। क्या ? कोई भी जीव कभी भी परिवर्तन कर सकता है। उसमें ऐसा नहीं है कि ये नया है और ये पुराना है ऐसा नहीं है। पू. सोगानीजीने एक दिनमें सम्यग्दर्शन ले लिया और दूसरे सब ३०-३० सालसे सुन रहे थे वे ऐसे के ऐसे रह गये। गौतम गणधरने भी ऐसा किया। अन्यमतसे आये थे न ! सोगानीजी तो फिर भी मूल दिगम्बर थे

जब कि गौतमस्वामी तो ब्राह्मण थे, तो भी भगवानने उनको पहली Chair (कुर्सी) दी - कि आप मेरे प्रधानमंत्री ! मैं तीर्थंकर और तू गणधर। बाकी दूसरे सभीने लाईन लगाई थी उन सबको पीछे रख दिया।

श्रोता : ऐसा क्यों किया साहेब ?

पू. भाईश्री : ये तो गुणप्रधान धर्म है। ये कोई किसीके बाप-दादाका धर्म नहीं है। संप्रदायका धर्म भी नहीं है, बल्कि ये तो गुणप्रधान धर्म है। जो गुण प्रगट करे उसका धर्म है। जो मारे उसकी तलवार। ``**घट घट अंतर जिन बसे, घट घट अंतर जैन**'' भगवानकी दृष्टि ऐसी है कि सभी आत्माएं जैन हैं। कोई स्थानकवासी, कोई देरावासी कोई फलाना - फलाना, उस दृष्टिसे नहीं देखना चाहिए ``**घट घट अंतर जिन बसे, घट घट अंतर जैन, मत मदिराके पानसे मतवाला समझे नहीं।**'' वैसी मत मदिरा जिसको चढ़ी है वह मतकी बातोंमें मंडन - खंडनमें उलझते हैं, बाकी गुरुदेवश्री तो कहते हैं हमारी तो जो भगवानकी दृष्टि है, वही हमारी दृष्टि है।

मुझे ही वैसा अनुभव हुआ था। पहले ही दिन ऐसा अनुभव हुआ था। शांतिभाईके साथ सोनगढ़ गया था, चैतन्य स्टोर्सवाले शांतिभाईके साथ पहले-पहल सोनगढ़ गया था। व्याख्यान पूरा हुआ कि सब लोग खड़े होकर चले गये। हमलोग, पंद्रह-बीस लोग बैठे थे, उनमें मैं भी बैठा था। तब गुरुदेवश्रीका ध्यान गया, बोले कि `**ये नये भाई कौन हैं ?**' तब शांतिभाईने परिचय करवाया कि भावनगरसे मेरे साथ आये हैं, वैष्णव हैं, परन्तु जैनदर्शनमें अच्छी रुचि रखते हैं - इसलिए मेरे साथ आये हैं' तब गुरुदेवश्री क्या बोले ? ``**यहाँ पर तो कोई वैष्णव भी नहीं है और जैन भी नहीं**

है' ठीक ! सिर्फ वैष्णव नहीं है ऐसा नहीं कहा बल्कि ``**यहाँ पर कोई वैष्णव भी नहीं है और जैन भी नहीं है बल्कि यहाँ तो सब आत्मा ही आत्मा है।**'' बस ! गुरुदेवश्रीके पहले एक ही वचनसे मैं तो प्रभावित हो गया। यहाँ तो हमारी नज़रमें सब आत्मा ही आत्मा हैं। हमारे यहाँ जैन-वैष्णवका भेद नहीं है। ऐसी समदृष्टि होती है और वही सच्ची दृष्टि है और वही द्रव्यदृष्टि है जो सम्यक्दृष्टि है।

क्या कहते हैं ? कि हमें भी प्रारब्धयोगके कारण अंतराय रहता है। कहीं न कहीं सत्संगकी विराधना की होगी, कोई विराधना हुई होगी, (इसलिए) हमें भी सत्संगका अंतराय रहता है। उसमें किसीका नहीं चलता। तीर्थंकरदेवका भी नहीं चलता और महापुरुषका भी नहीं चलता। ``**प्राय: किसी बातका खेद `हमारे' आत्मामें उत्पन्न नहीं होता,...**'' कोई लाभ-नुक़सान हो तो उसमें हमें कोई खेद नहीं होता या हर्ष-शोक नहीं होता, दो में से कुछ नहीं होता ``**तथापि सत्संगके अंतरायका खेद प्राय: अहोरात्र रहा करता है।**'' सत्संगका अंतराय रहा करता है और हमें उसका खेद भी रहा करता है। समाधान नहीं कर लेते हैं ऐसे कि क्या करें ! पूर्व-कर्म है, अपना भाग्य ही ऐसा है तो भुगतना पड़ेगा, इसलिए हम समाधान और शांति रखें ऐसा नहीं होता; बल्कि खेद हुए बिना नहीं रहता। सत्संग इतना दुर्लभ है, सत्संग इतना दुर्लभ है कि ज्ञानी-महापुरुषको भी इसका अंतराय रहता है और इसके खेदमें कई रात और दिन गुज़ारने पड़ते हैं। सत्संगका मूल्य होना चाहिए ऐसी बात है।

श्रोता : ``**तथापि उदययोग प्रारब्धसे ऐसा अंतराय रहा करता है**'' इसका मतलब क्या ?

पू. भाईश्री : ऐसा अंतराय रहता है मतलब सत्संग नहीं रहता

है। निरंतर सत्संग रहता नहीं है बल्कि उसका अंतराय रहता है। बम्बईमें सत्संग करनेको कहाँ जाये ? फिर भी सुनी हुई बात है कि वे शामको थोड़ी निवृत्ति लेते थे, कामकाजसे निवृत्त होते थे और उनके दो-तीन ऑफिस थे उनमेंसे एकमें शायद कुछ धमाल कम रहती होगी, वहाँ चले जाते थे और फिर शामका खाना खाकर वहाँ बैठते थे तो कोई-कोई मुमुक्षु जो बम्बईमें परिचयमें थे वे आते थे तो कई बार रातको १०-११ और कभी १२ बजे तक भी सत्संग चल जाता था। परन्तु वह भी रेग्युलर (नियमित) चलता नहीं होगा। क्योंकि आनेवाले को भी अनुकूलता हो-न हो। बम्बईमें तो बारिशके मौसममें बारिश भी तेज़ होती है; इसलिए किसीको साधन मिले, नहीं मिले, इसलिए भी नियमित नहीं चलता होगा; लेकिन बम्बईमें कभी-कभार ऐसे सत्संग चलता था - ये बात सुनी हुई है।

उसका खेद रहा करता है। ``**सर्व भूमि**'' ये पूरा क्षेत्र, सर्व भूमि माने ये पूरा क्षेत्र ``**सर्व मनुष्य**'' अर्थात् ये सभी लौकिक मनुष्य, ``**सर्व काम**'' जो भी उदयमें आते हैं वे काम ``**सर्व बातचीतादि प्रसंग**'' जो कुछ भी आ पड़ते हो वे सभी ``**अपरिचित जैसे एकदम पराये, उदासीन जैसे, अरमणीय, अमोहकर और रसरहित स्वभावत: भासित होते हैं।**'' उदयमें हमारी ये परिस्थिति है। उदय वशात् जिसके साथ भी बातचीतादिका प्रसंग बनता है, या कोई आदमी मिल जाता है तो हमें ये सब दिखता है, हमें कहीं पर भी मोह नहीं होता। अच्छा नहीं लगता, कहीं भी सुंदरता भासित नहीं होती और कहीं पर भी हमें रस नहीं आता। स्वाभाविकरूपसे नीरस हो चुके हैं। उदास, उदास, उदास, उदास...किसीसे मिलना-जुलना अच्छा नहीं लगता। क्योंकि जो मुमुक्षु होता है वह सबसे अलग दिखाई पड़ता

है। उसको कहीं भी मिलना-जुलना अच्छा नहीं लगता। अकेला-अटूला लगता है। ऐसी स्थिति हो जाती है कि कहीं पर भी मिलना-जूलना सुहाता नहीं है। सत्संगके अलावा कहीं भी उसको सुहाता नहीं।

अब हमें अच्छा क्या लगता है, वह बताते हैं कि ``**मात्र ज्ञानी पुरुष, मुमुक्षु पुरुष,**'' मुमुक्षुपुरुष अर्थात् मुमुक्षु आत्माएं। ``**मात्र ज्ञानी पुरुष, मुमुक्षु पुरुष, अथवा मार्गानुसारी पुरुषका**'' मुमुक्षु और मार्गानुसारी को अलग-अलग बताया है। मार्गानुसारीमें क्या होता है ? कि अन्यमतमें भी कोई-कोई जीव ऐसे होते हैं कि जिनको सत्य सुहाता है। उनके मतमें भी जो तीर्थंकरदेवका सत्य है वह सुहाता है।

अभी डॉ. गांगुली जो हैं (कलकत्ता) उनसे मेरा मिलना जब होता है। तब वैसे तो वे अन्यमती हैं; परन्तु हमारे सिद्धांत उनको बहुत सुहाते हैं। इतने सुहाते हैं, कि बहुत सुहाते हैं। कुंदकुंदाचार्य को तो बहुत याद करते हैं। इन दिनों बहुत याद करते हैं। ``कुंदकुंदाचार्य स्वर्ग में गये हैं अब मुझे ऐसा होता है कि मैं भी स्वर्गमें जाऊँ, वैसे तो उनके चरणमें बैठनेका मन करता है; लेकिन ऐसा भी होता है कि महाविदेहसे होते हुए सीधा चला जाऊँ तो अच्छा है। क्या ? महाविदेह होते हुए सीधा सिद्धालयमें चला जाऊँ तो मुझे ठीक लगता है। वैसे तो मुझे Short Cut अच्छा लगता है। लेकिन दूसरी ओर मुझे कुंदकुंदाचार्यका आकर्षण भी रहता है। इस प्रकारकी बहकी-बहकी बातें करते थे, हाँ ! कुंदकुंदाचार्यका बहुत नाम लेते हैं। ``पोन्नुर जाना है, एकबार पोन्नुर जाना है, यात्रा करनी है।''

मार्गानुसारी जीव ऐसे होते हैं कि अन्यमतमें होते हुए भी उनको जैन सिद्धांत बहुत सुहाता है। जैन दर्शनके महात्माओं के प्रति उन्हें

भक्ति होती है और उन्हें सत्य सुहाता है। जहाँ भी हो उसको सत्य सुहाता है। अन्यमतमें भी तीर्थंकरदेवका सत्य गया है - क्योंकि (उन लोगोंने भी) समझा तो वहीं से है। तीर्थंकरकी बात सुनते-सुनते कोई बात पकड़ ली फिर उसको लोजीक से (अपनी बुद्धिसे) मुख्य कर दिया और बाकीका उड़ा (छोड़) दिया इसलिए गड़बड़ हो गई। लेकिन उसमें जो मूल बात है उसको मार्गानुसारी जीव पकड़ता है। ज्ञानी भी उसमेंसे मूल बातको पकड़ते हैं। इसलिये अन्यमतका शास्त्र पढ़े तो भी उन्हें मिथ्यात्व नहीं हो जाता। ``**चार वेद पुराण आदि शास्त्र सौ मिथ्यात्वना, पण ज्ञानीने ते ज्ञान भास्या एज ठेकाणे ठरो, जिनवर कहे छे ज्ञान तेने सर्व भव्यो सांभळो**''(-कृपालुदेव) वह ज़रा गहरी बात है।

ऐसे ``**मार्गानुसारी पुरुषका सत्संग परिचित, अपना,...**'' है ऐसा लगता है। उनमें हमको अपनापन लगता है। देखिये ! वह हमें ``**प्रीतिकर**'' है। वह हमें सुहाता है। वह हमें ``**सुंदर**'' लगता है। लो कर लो बात ! वहाँ कैसी सुंदरता लगती होगी ?! वह हमें सुंदर लगता है। वह हमें ``**आकर्षक**'' है। उसका हमें आकर्षण है। हमारे परिणाम वहाँ खिंचते हैं। आकर्षण होता है तब क्या होता है ? कि परिणाम वहाँ खिंचते हैं। ``**और रसस्वरूप भासित होता है**'' हमें उसमें रस है। ``**ऐसा होनेसे हमारा मन प्राय: अप्रतिबद्धताका सेवन करते करते आप जैसे मार्गेच्छावान पुरुषोंमें प्रतिबद्धताको प्राप्त होता है।**'' कहीं भी हम प्रतिबद्ध नहीं होते हैं। कहीं पर भी, हमारा उपयोग नहीं टिकता, सभी जगह उदास हैं। परन्तु सत्संग, सत्संगी, ज्ञानी जो हैं वहाँ हमारा मन चौंटता है। प्रतिबद्धताको प्राप्त होता है मतलब कि इतना हमारा मन वहाँ चौंटता है। दूसरे कहीं पर हमारा मन नहीं लगता, बल्कि नीरस हो जाता

है। रस लेना हो तो भी हम रस नहीं ले सकते, ऐसी हमारी स्थिति हो गई है। एक यही वस्तु हमें प्रिय है। आत्मकल्याण और आत्मकल्याणके मार्ग पर जानेवाले जीव, इसके सिवा हमें और कुछ नहीं सुहाता। फिर भी समदृष्टि है, हाँ ! सभी जीवोंके प्रति समदृष्टि है। कोई भी जीव आत्मकल्याणको प्राप्त हो, अरे ! आत्मकल्याणके कारणको भी अगर प्राप्त हो, तो भी एक समयकी देरी किये बगैर (वैसा) कार्य करनेका प्रकार - ऋषभदेव जैसे महापुरुषको ऐसी अवस्था प्राप्त थी। पत्रांक - ४३० में लिया है न ! पन्ना - ३७०, ``**कोई भी जीव परमार्थको मात्र अंशरूपसे भी प्राप्त होनेके कारणोंको प्राप्त हो, ऐसा निष्कारण करुणाशील ऋषभादि तीर्थंकरोंने भी किया है; क्योंकि सत्पुरुषोंके संप्रदायकी ऐसी सनातन करुणावस्था होती है कि समयमात्रके अनवकाशसे समूचा लोक आत्मावस्थामें हो, आत्मस्वरूपमें हो**'' सारा लोक आ जाओ ! ``**आत्मसमाधिमें हो, अन्य अवस्थामें न हो**'' भवी-अभवी किसीको बाकी नहीं छोड़े। (देखिये !) भावनाकी विशालता ! यह भावनाकी विशालता है जिसमेंसे तीर्थंकर गोत्र बंधता है। सभी जीवके प्रति एक समान करुणा ! सबको साथमें न्योता दे रहे हैं, पूरे लोकको एकसाथ न्योता (दे रहे हैं) - यहाँ तक रखते हैं।

श्रीमद् राजचंद्र

पत्रांक - ६०९

बंबई, जेठ, १९५१

ॐ

१. सहजस्वरूपसे जीवकी स्थिति होना, इसे श्री वीतराग `मोक्ष' कहते हैं।

२. जीव सहजस्वरूपसे रहित नहीं है, परन्तु उस सहजस्वरूपका जीवको मात्र भान नहीं है, जो भान होना, वही सहजस्वरूपसे स्थिति है।

३. संगके योगसे यह जीव सहजस्थितिको भूल गया है; संगकी निवृत्तिसे सहजस्वरूपका अपरोक्ष भान प्रगट होता है।

४. इसीलिये सर्व तीर्थंकरादि ज्ञानियोंने असंगता ही सर्वोत्कृष्ट कही है, कि जिसमें सर्व आत्म-साधन रहे हैं।

५. सर्व जिनागममें कहे हुए वचन एक मात्र असंगतामें ही समा जाते हैं; क्योंकि वह होनेके लिये ही वे सर्व वचन कहे हैं। एक परमाणुसे लेकर चौदह

राजलोककी और मेषोन्मेषसे लेकर शैलेशीअवस्था पर्यंतकी सर्व क्रियाओंका जो वर्णन किया गया है, वह इसी असंगताको समझानेके लिये किया है।

६. सर्व भावसे असंगता होना, यह सबसे दुष्कर साधन है; और वह निराश्रयतासे सिद्ध होना अत्यन्त दुष्कर है। ऐसा विचारकर श्री तीर्थंकरने सत्संगको उसका आधार कहा है, कि जिस सत्संगके योगसे जीवको सहजस्वरूपभूत असंगता उत्पन्न होती है।

७. वह सत्संग भी जीवको कई बार प्राप्त होनेपर भी फलवान नहीं हुआ, ऐसा श्री वीतरागने कहा है, क्योंकि उस सत्संगको पहचानकर इस जीवने उसे परम हितकारी नहीं समझा, परमस्नेहसे उसकी उपासना नहीं की, और प्राप्तका भी अप्राप्त फलवान होनेयोग्य संज्ञासे विसर्जन किया है, ऐसा कहा है। यह जो हमने कहा है उसी बातकी विचारणासे हमारे आत्मामें आत्मगुणका आविर्भाव होकर सहज समाधिपर्यंत प्राप्त हुए, ऐसे सत्संगको मैं अत्यंत अत्यंत भक्तिसे नमस्कार करता हूँ।

८. अवश्य इस जीवको प्रथम सर्व साधनोंको गौण मानकर निर्वाणके मुख्य हेतुभूत सत्संगकी ही सर्वार्पणतासे उपासना करना योग्य है; कि जिससे सर्व साधन सुलभ होते हैं, ऐसा हमारा आत्मसाक्षात्कार है।

९. उस सत्संगके प्राप्त होनेपर यदि इस जीवको कल्याण प्राप्त न हो तो अवश्य इस जीवका ही दोष है; क्योंकि उस सत्संगके अपूर्व, अलभ्य और अत्यंत दुर्लभ योगमें भी उसने उस सत्संगके योगके बाधक अनिष्ट कारणोंका त्याग नहीं किया।

१०. मिथ्याग्रह, स्वच्छन्दता, प्रमाद और इन्द्रियविषयकी उपेक्षा न की हो तभी सत्संग फलवान नहीं होता, अथवा सत्संगमें एकनिष्ठा, अपूर्वभक्ति न की हो तो फलवान नहीं होता। यदि एक ऐसी अपूर्वभक्तिसे सत्संगकी उपासना की हो तो अल्पकालमें मिथ्याग्रहादिका नाश हो और अनुक्रमसे जीव सर्व दोषोंसे मुक्त हो जाये।

११. सत्संगकी पहचान होना जीवको दुर्लभ है। किसी महान पुण्ययोगसे उसकी पहचान होनेपर निश्चयसे यही सत्संग, सत्पुरुष है, ऐसा साक्षीभाव उत्पन्न हुआ हो, वह जीव तो अवश्य ही प्रवृत्तिका संकोच करे; अपने दोषोंको क्षण क्षणमें, कार्य कार्यमें और प्रसंग प्रसंगमें तीक्ष्ण उपयोगसे देखे; देखकर उन्हें परिक्षीण करे; और उस सत्संगके लिये देहत्याग करनेका योग होता हो तो उसे स्वीकार करे; परन्तु उससे किसी पदार्थमें विशेष भक्तिस्नेह होने देना योग्य नहीं है। तथा प्रमादवश रसगारव आदि दोषोंसे उस सत्संगके प्राप्त होनेपर

पुरुषार्थधर्म मंद रहता है, और सत्संग फलवान नहीं होता, ऐसा जानकर पुरुषार्थवीर्यका गोपन करना योग्य नहीं है।

१२. सत्संगकी अर्थात् सत्पुरुषकी पहचान होनेपर भी यदि वह योग निरंतर न रहता हो तो सत्संगसे प्राप्त हुए उपदेशका ही प्रत्यक्ष सत्पुरुषके तुल्य समझकर विचार करना तथा आराधन करना कि जिस आराधनसे जीवको अपूर्व सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

१३. जीवको मुख्यसे मुख्य और अवश्यसे अवश्य यह निश्चय रखना चाहिये कि मुझे जो कुछ करना है वह आत्माके लिये कल्याणरूप हो, उसे ही करना है, और उसीके लिये इन तीन योगोंकी उदयबलसे प्रवृत्ति होती हो तो होने देना, परन्तु अन्तमें उस त्रियोगसे रहित स्थिति करनेके लिये उस प्रवृत्तिका संकोच करते करते क्षय हो जाये, यही उपाय कर्तव्य है। वह उपाय मिथ्याग्रहका त्याग, स्वच्छंदताका त्याग, प्रमाद और इन्द्रियविषयका त्याग, यह मुख्य है। उसे सत्संगके योगमें अवश्य आराधन करते ही रहना, और सत्संगकी परोक्षतामें तो अवश्य अवश्य आराधन किये ही जाना; क्योंकि सत्संगके प्रसंगमें तो यदि जीवकी कुछ न्यूनता हो तो उसके निवारण होनेका साधन सत्संग है, परन्तु सत्संगकी परोक्षतामें तो एक अपना आत्मबल ही साधन है। यदि वह आत्मबल सत्संगसे प्राप्त हुए बोधका अनुसरण न

करे, उसका आचरण न करे, आचरणमें होनेवाले प्रमादको न छोड़े, तो किसी दिन भी जीवका कल्याण न हो।

संक्षेपमें लिखे हुए ज्ञानीके मार्गके आश्रयके उपदेशक इन वाक्योंका मुमुक्षुजीवको अपने आत्मामें निरंतर परिणमन करना योग्य है, जिन्हें हमने अपने आत्मगुणका विशेष विचार करनेके लिये शब्दोंमें लिखा है।

इस पत्रमें, संक्षेपमें ज्ञानीके मार्गके आश्रयको उपदेशनेवाले वचन हैं। पत्रके अंतमें, इस बातका उन्होंने उल्लेख किया है, कि कोई मुमुक्षुजीवको ज्ञानीके मार्गका आश्रय करना हो यानीकी ज्ञानीके मार्गका अनुसरण करना हो, तो इन वाक्योंसे अनुसरण हो सकता है। खास करके कृपालुदेवका इस विषयमें अभिप्राय अनेक पत्रोंमें अति स्पष्टरूपसे है कि, ``**मुमुक्षुजीवको आत्मकल्याण के लिए सत्संग जैसा कोई (दूसरा) साधन नहीं है। सत्संग जैसा साधन हमने जाना नहीं, सुना नहीं और देखा नहीं।**'' ऐसा जगह-जगह उनके पत्रोंमें दिखनेमें आता है। यह पत्र तो खास सत्संगके विषयमें ही (लिखा गया) है। अनेक पहलुओंसे इस विषयका महत्त्व अर्थात् सत्संगके महत्त्वको दर्शानेके लिये एवं सत्संग प्राप्त हो फिर भी अगर निष्फल जाये तो किन कारणोंसे जाये ? सफल होवे तो किन कारणोंसे होता है ? इत्यादि सभीका स्पष्टीकरण इस पत्रमें आया है। उन्हें जो-

जो बात इस विषयमें करनी है उन मुद्दोंको १३ अंकोंमें दिया हुआ है, और बातको स्पष्ट किया है।

विषयका प्रारंभ मोक्षसे करते हैं। यह एक विषयको प्रतिपादन करनेकी विशिष्टता है। सत्संग मुमुक्षुजीवका पहला कदम है - पहला चरण है। शुरूआतका ही कार्य है और इस शुरूआतके कार्यका महत्त्व कितना है ? यह बतानेके लिए बात मोक्षसे शुरू करते हैं। जो कि सत्संगकी फलश्रुतिरूप अंतिम चरण है। इस प्रकारसे प्रतिपादन करनेका आशय ऐसा है कि मोक्ष भले ही सर्वोच्च दशा है, सर्वोत्कृष्ट दशा है, इससे आगे जीवकी कोई दशा नहीं है, आखिर से आखिरकी परिपूर्ण शुद्धदशा - वह मोक्ष है (लेकिन) इस मोक्षपदकी नींवमें कौनसी चीज रही है ? कि जिसके कारण मोक्षकी उपलब्धि होती है। इतना महत्त्व दिखानेके लिए अंतमें सत्संगके कारण कहाँ तक पहुँचा जा सकता है कि जिससे सत्संगका महत्त्व समझा जा सकता है।

पहले मोक्षकी दो प्रकारसे परिभाषा की है - व्याख्या की है। ``**सहजस्वरूपसे जीवकी स्थिति होना, इसे श्री वीतराग `मोक्ष' कहते हैं।**'' जीवका जो मूलस्वरूप है उस मूलस्वरूपको सहजस्वरूप कहते हैं। संसारमें चारों गतिमें जीवकी जो स्थिति है - वैसा मूलस्वरूप नहीं है। जैसे कि अभी कोई मनुष्य है उसमें कोई पुरुष है, तो कोई स्त्री है, लेकिन ऐसा जीवका मूलस्वरूप नहीं है। जीवकी ऐसी स्थिति कर्मजनित है - सकर्म अवस्था है। और कर्मके फलस्वरूप जीव चारोंगतिमें विध-विध अवस्था धारण करता है। किन्तु जीवका वैसा मूलस्वरूप नहीं है। जैसा मूलस्वरूप है वैसी ही दशा, वैसी ही स्थिति होना उसे मोक्ष कहनेमें आया है। यानीकि इसके पहले जीवकी मोक्षरूप दशा नहीं है। तो कैसी दशा है ? कि मोक्षसे

विपरीत ऐसी बंधरूप दशा है। कर्मसे बंधी हुई दशा है। कर्मसे आवरण प्राप्त - ऐसी दशा है। और उस दशासे मुक्त होना उसका नाम मोक्ष है। ऐसी दशासे मुक्त होना यह मोक्षकी शब्दार्थ अनुसार परिभाषा है। क्योंकि मोक्ष अर्थात् मुक्त होना। लेकिन किससे मुक्त होना ? कि जिससे बंधा हुआ है (उससे), कर्मसे बंधा हुआ है, इसलिए उससे (कर्मसे) मुक्त होना, उसे मोक्ष कहते हैं। किन्तु यहाँ इस प्रकारसे व्याख्या नहीं करके जीवका मुलस्वरूप रूप वह दशा तब होती है, जब सर्व कर्मका क्षय होता है और सर्व कर्मके क्षयरूप ऐसी मोक्षदशा उत्पन्न होती है, तब यह शुद्ध दशा कैसी है ? कि (जैसा) जीवका मूलस्वरूप है वैसी है। अथवा आत्मा जो सहजात्मस्वरूप है वही दशा, ऐसी ही दशा उत्पन्न होना और सर्व प्रकारकी विकृत-विकारी अवस्थाओंका अभाव होना उसका नाम मोक्ष है।

ये सहजस्वरूपसे जीवकी जो स्थिति है उसमें भी दो प्रकार हैं। एक प्रकार श्रद्धा अपेक्षासे है और दूसरा प्रकार आचरण अपेक्षासे है। पहले, सबसे पहले श्रद्धाकी मुख्यतासे मोक्षकी परिभाषा करेंगे। कि ``**जीव सहजस्वरूपसे रहित नहीं है,....**'' सहजस्वरूप जैसा है वैसी मोक्षदशा उत्पन्न होती है, ऐसा जो मूलस्वरूप है वह स्वरूप नित्य स्वरूप होनेसे, त्रिकाली स्वरूप होनेसे, ऐसे स्वरूपसे तो जीव कभी भी रहित नहीं है। (लेकिन) ऐसा स्वरूप प्रगट करना वह दूसरी बात है। किन्तु यह जो स्वरूप है उसे प्रगट करनेकी बात है। नहीं है और कहीं से लाना है ऐसा कुछ नहीं है।

तो इस विषयमें किस तरह शुरूआत होती है ? कि **"जीव सहजस्वरूपसे रहित नहीं है, परन्तु उस सहजस्वरूपका जीवको मात्र भान नहीं है,...**'' सहजस्वरूप होने पर भी यह जीव खुदके मूलस्वरूपको भूल गया है। अथवा उसे बिलकुल उसका भान रहता

नहीं है। सहजस्वरूपका भान रहता नहीं है - होता नहीं है। भान रहित है ऐसा नहीं है लेकिन वह भान गलत है। गलत है माने (क्या) ? कि जो कर्मजनित अवस्था है वैसा मैं हूँ ऐसा जीवको सदा भान रहा करता है। अभी ``मैं मनुष्य हूँ'' ऐसा भाव सभी मनुष्योंको रहता है। जब वह तिर्यंच अवस्थाको प्राप्त होता है तब ``मैं तिर्यंच हूँ'' ऐसा भान रहता है। देवगतिमें हो तब ``मैं देव हूँ'' ऐसा भान उसे रहा करता है। अर्थात् कोई जीव भान बिना का नहीं है। लेकिन इस भानका वास्तवमें खुदके मूलस्वरूपकी अपेक्षासे विचार करनेमें आये तो वह बेभानपना है। वास्तवमें भानपना नहीं है, किन्तु बेभानपना है। परन्तु ``**सहजस्वरूपका जीवको मात्र भान नहीं है, जो भान होना, वही सहजस्वरूपसे स्थिति है।**'' जो भान होना, ऐसा जो भान होना वही सहजस्वरूपसे स्थिति है।

यह किस तरह कहा है ? कि जैसे कोई मनुष्य जन्मसे ही दरिद्र है। बहुत ही दरिद्र है, ज्यादा ही दरिद्र है। ऐसे दरिद्र मनुष्यको खुदके घरसे ही गड़ी हुई संपत्ति जब हाथ लगे तब उस मनुष्यको उस संपत्तिका उपयोग होनेके पहले ही भान हो जाता है कि मेरे पास ढेर सारी संपत्ति है। (तो) उसी वक्त वह अमीर हो गया कि नहीं हुआ ? भले ही उसने कपड़े भी बदले नहीं हो, मकान भी बदला नहीं हो, वह मकानकी चीज-वस्तु भी बदली नहीं हो, फर्निचर भी बनाया नहीं हो या कोई गहने-ज़ेवर भी बनाये नहीं हों, फिर भी संपत्ति देख ली (तो) देखने मात्रसे वह अमीर हुआ कि नहीं हुआ ? (अर्थात्) हो गया। मकान बननेमें भले ही एक-दो साल लगे, दूसरे काम करनेमें भी उस प्रकारसे समय लगेगा, फिर उसकी चिंता रहती है उसे ? कि क्यों समय लग रहा है ?

ऐसे (ही) सम्यग्दर्शनमें स्वयंके मूलस्वरूपका भान होता है कि

जो स्वरूप बंध रहित - अबद्धस्पृष्ट है। कर्मसे नहीं बंधा हुआ और कर्मने जिसका स्पर्श भी नहीं किया है ऐसा जो मूलस्वरूप है उसका भान होते ही एक न्यायसे तो उसका मोक्ष हो गया (ऐसा कहा जा सकता है)। जिस न्यायसे दरिद्र मनुष्य अमीरीको महसूस करता है उसी न्यायसे सम्यग्दर्शन के कालमें जीव स्वयंका शुद्ध - सिद्धस्वरूपका अनुभव करता है। शुद्धस्वरूपका कहो या सिद्धस्वरूपका (कहो, उसका) अनुभव करता है अथवा (ऐसा कह सकते हैं कि) स्वयंके परमात्मस्वरूपका अनुभव करता है। ``मैं परमेश्वर हूँ'' ऐसा अनुभव करता है। बाहरमें कर्मजनित अवस्था वैसी की वैसी है। ऐसा कोई जरूरी नहीं है कि स्वयंके निज परमेश्वरपदका भान होते ही सब कर्म अपनी अवस्था छोड़ दे और बाहरमें भी मोक्ष हो जाये, ऐसा होना कोई ज़रूरी नहीं है अथवा ऐसा बनता नहीं है। अज्ञानभावसे बांधे हुए कर्मोंका उदय तब भी चालू ही रहता है। जैसे अज्ञानभावसे बांधे हुए कर्मोंका उदय सभी संसारीजीवको चालू रहता है, वैसे ही निजस्वरूपके भानमें आये हुए जीवको भी कर्मका उदय तो उसी प्रकारसे चालू रहता है। उसके उदयमें कोई फेरफार नहीं होता।

``**जिनपद निजपद एकता, भेदभाव नहीं कांई**'' उसमें कोई तफावत (फ़र्क़) नहीं है ऐसा भान होता है, और प्रकट लक्षणसे भान होता है, और उसे एक न्यायसे मोक्ष हुआ ऐसा कहनेमें आता है। ऐसा इसलिये कहनेमें आता है कि तबसे जीवके जो पुण्य और पापके परिणाम होते हैं उन परिणामोंको अबंध परिणाम कहा गया है। तत्त्वदृष्टिसे इन परिणामोंको अबंध परिणाम कहा है। क्यों ? क्योंकि बंध नामका जो तत्त्व है उसकी मौजूदगी वहाँ नहीं है। नौ तत्त्वोंमें एक बंध तत्त्व है। इस विषय(का) तात्त्विक ग्रंथोंमें और परमागमोंमें - समयसार जैसे ग्रंथमें बहुत सुंदर रीतिसे प्रतिपादन

किया गया है कि रागका जो रस है वह बंधतत्त्व है। रागके जो चिकने परिणाम हैं वे बंधतत्त्व हैं, और सम्यक्दृष्टिको कभी भी ऐसे चिकने परिणाम नहीं होते। इसी कारणसे सम्यक्दृष्टि अबंध हैं। वे बंधते नहीं हैं। लेकिन पूर्वकर्मको भोगते हुए वे पूर्वकर्मकी निर्जरा करते हैं। अर्थात् ज्ञानीको भी अज्ञानदशामें बांधे हुए कर्मोंके जो उदय हैं वे खिरने के लिये आते हैं, न कि नया बंध होनेके लिए। इसलिए यह सहजस्वरूपका भान जो है उसे मोक्ष कहा जाता है।

अब, जीव जो अनादिसे अपने मूलस्वरूपको भूला हुआ है, वह किस कारणसे भूला हुआ है ? इसका स्पष्टिकरण दे रहे हैं। प्रत्येक बातका प्रतिपादन किया है (और) उस प्रतिपादनका कारण भी खुद ही स्पष्ट करते जाते हैं, क्योंकि यहाँ ऐसा प्रश्न होना संभवित है कि जीवको सहजस्वरूपका भान नहीं है, तो वह भान क्यों नहीं है ? ऐसा प्रश्न होने योग्य है। जो - जो प्रश्न उठे उनका समाधान आगे-आगे खुद देते जाते हैं। कि, ``**संगके योगसे यह जीव सहजस्थितिको भूल गया है;...**'' क्यों भूला है ? ``**संगके योगसे**'' जो कुछ भी आसपास अन्य पदार्थोंका संग है उस रूप खुदको माना है। जैसे अभी जीवको - हरएक संसारीके पासमें (नज़दीक) उसका शरीर है। नज़दीकसे नज़दीक (पासमें) क्या है ? शरीररूपी संयोग है और इसके अलावा दूसरे संयोग भी प्रारब्ध अनुसार हैं। जीव स्वयंको उस प्रकारके शरीरवाला और संयोगवाला मानता है, जानता है (और) स्वीकारता है। वही उसे संगका योग है।

संगका योग माने क्या ? कि समीपमें रही अवस्थाका स्वपने - अपने स्वरूपरूप स्वीकार करना वह संगका योग है। और योग माने जुड़ान - उस अवस्थामें खुदका जुड़ान और उसरूप खुदका स्वीकार (उसे योग कहते हैं)। अन्यथा स्वीकार किया होनेसे, अथवा

अन्यस्वरूपरूप खुदका स्वीकार होनेसे, जीव मूलस्वरूपको भूला है। सहजस्थिति अर्थात् मूलस्वरूप। उस मूलस्वरूपको जीव भूला है।

``**संगकी निवृत्तिसे सहजस्वरूपका अपरोक्ष भान प्रगट होता है।**'' संगकी निवृत्ति माने क्या ? कि `मैं संगवाला हूँ', इस प्रकारकी स्वीकृतिका नाश (होना) उसे संगकी निवृत्ति कहते हैं। ऐसा कभी नहीं होता कि जीवको परपदार्थोंके संयोगका अभाव हो जाय। क्योंकि इस विश्वमें जड़ और चेतनका संयोग अनादि अनंत है। विश्व जड़-चेतन, दोनों पदार्थोंके संयोगरूप बना हुआ है। उसमेंसे एक भी परमाणुका नाश नहीं होता और एक जीवका भी नाश नहीं होता। प्रत्येक जीव और प्रत्येक परमाणु अवस्था बदलते हैं। किसीका मूलसे नाश नहीं होता। इसलिए विश्वमें जड़-चेतनका जो संयोग है उस संगकी - संयोगकी निवृत्ति कभी भी नहीं होती। निवृत्ति अर्थात् नाश होना। किन्तु `मैं संगवाला हूँ', `मैं शरीरवाला हूँ', `ऐसा प्रारब्धवाला हूँ', `ऐसा संयोगवाला हूँ', इसका नाश (अर्थात्) ऐसी मान्यताका - ऐसे स्वीकारका नाश ज़रूर हो सकता है। और इसे संगकी निवृत्ति कही जाती है और तब उसे सहजस्वरूपका अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष भान प्रगट होता है। अनुमानसे (या) कल्पनासे नहीं लेकिन प्रत्यक्ष अनुभवगोचर हो ऐसा भान प्रगट होता है।

इसमेंसे कौनसी बात फलित होती है इसका विचार करने योग्य है; कि जब तक जीव स्वयंके मूलस्वरूपको नहीं समझेगा, मूलस्वरूपको समझे बिना जो कर्मजनित अवस्था है, उसमें `मैं ऐसा और इतना हूँ' जब तक इस प्रकारके भानमें रहता है तब तक उसे कभी (भी) सहजस्वरूपका भान होता नहीं है। अत: मूलस्वरूपका भान होनेके लिए खुदने जिस वर्तमान अवस्थाको स्वीकार किया है उसमें ही खुदको शंका हो, अविश्वास खड़ा हो और अन्दरमें

इससे सम्बन्धित खलबली मच जाये, तब जाके उसे सहजस्वरूपका भान प्रगट हो सकता है, वरना सहजस्वरूपका भान प्रगट नहीं हो सकता। इस विषयका बहुत वास्तविकतासे विचार करने जैसा है।

इधर वास्तविकता माने क्या ? उन्होंने (कृपालुदेवने) ८३ नंबरके एक पत्रमें इसके सम्बन्धित उल्लेख किया है, कि जीव स्वयंको वर्तमान अवस्था जितना ही मानकर - कल्पना करके - स्वीकार करके, इस अवस्था सम्बन्धित चिंतामें इतना ज्यादा घिरा हुआ है कि अपने मूलस्वरूपके बारेमें उसे कभी विचारनेका भी अवकाश प्राप्त नहीं होता है, इतना ज्यादा घिरा हुआ है। अनेक प्रकारकी उपाधि और चिंतासे ग्रस्त है। इसलिए खुदका मूलस्वरूप क्या है ? और कैसा है ? इसके सम्बन्धित अन्दरसे खलबली नहीं होती है। कभी ऊपर-ऊपरसे होता है लेकिन अन्दरसे नहीं होता है। ऊपर-ऊपरसे होता है लेकिन उसकी चिंता-संयोगोंकी जो चिंता है वह इतनी ज्यादा लगी हुई है कि ऊपर-ऊपरसे ऐसा कोई विचार आता है तो भी उस विचारमें ज़रा भी विचारबल नहीं होता है और इस विचारबलका अभाव होनेके कारण ऐसे थोड़े-बहुत किये हुए विचार ज़रा भी आगे चलें इसके पहले ही नष्ट हो जाते हैं, या खत्म हो जाते हैं। अभी तक ऐसा बनता आया है। अन्दरमें जब तक खलबली न मचे (कि) `मैं कौन हूँ ?', `कैसा हूँ ?', `मेरा सच्चा स्वरूप क्या है ?', और `यह सब लगाव सच्चा है कि झूठा है ?', `रखने योग्य है कि छोड़ने योग्य है ?' यह बात `बहु पुण्य केरा पुंज'में (अमूल्य तत्त्वविचार काव्य) ली है। आत्मज्ञानके सिद्धांततत्त्वका अनुभव करनेमें इस प्रकारका ऊहापोह (खलबली) होना यह नींवका (मूलका) विषय है। लेकिन ऐसी खलबली अन्दरसे होनी चाहिए, ऊपर-ऊपरसे नहीं। इतनी यहाँ पर शर्त है। जब तक जीव ऊपर-

ऊपरसे ऐसी विचारणा करता है तब तक (वह) जड़ संयोगोंकी चिंतामें पड़ा हुआ है - जड़ संयोगोंकी चिंतासे घिरा हुआ है।

जब खुदके मूलस्वरूप सम्बन्धित खलबली मचती है तब उसको सही (सच्ची) चिंता इस प्रकारसे आती है कि, अनन्त जन्म-मरण कर चुके हुए ऐसे खुदके आत्माकी उसको पहली बार दया (तरस) आती है, करुणा आती है और तब ही वह कर्मबन्धनसे मुक्त होनेकी सच्ची जिज्ञासा (अभिलाषा) या भावनामें आता है। इसके पहले वह सच्ची जिज्ञासा (अभिलाषा) या भावनामें आ नहीं सकता। ऐसी जो पात्रतायुक्त परिस्थिति है, इसका उल्लेख उन्होंने (कृपालुदेवने) ४० नंबरके पत्रांकमें किया है। हम उन्हींके शब्दोंमें ४० नंबरके पत्रमें देखें, पृष्ठ - १७२ है। इसमें शुरूकी तीसरी पंक्ति है। ``**अनन्त जन्ममरण कर चुकनेवाले इस आत्माकी करुणा वैसे अधिकारीको उत्पन्न होती है...**'' अधिकारी माने पात्रजीवको ही उत्पन्न होती है, ``**और वही कर्ममुक्त होनेका अभिलाषी कहा जा सकता है।**'' अर्थात् उसको ही अभिलाषा (इच्छा) वाला कह सकते हैं। जब तक खुदके ही अनन्त जन्म-मरण सम्बन्धित करुणा माने दया नहीं आये, जीवको अपनी ही दया नहीं आये तब तक उसे सचमुच दुःखसे मुक्त होनेकी सच्ची अभिलाषा है, ऐसा नहीं कह सकते। इस दयासे उसका हृदय आर्त्त हो जाय; भिग जाये तब उस पात्र जीवकी दशामें इतनी निर्मलता आती है कि जिसके कारण ``**वही पुरुष यथार्थ पदार्थको...**'' अर्थात् मूलस्वरूपको ``**...यथार्थ स्वरूपसे समझकर मुक्त होनेके पुरुषार्थमें लग जाता है।**'' पदार्थका मूलस्वरूप समझे और दशामें मुक्त होनेके पुरुषार्थकी उत्पत्ति नहीं हो - ऐसा कभी बन नहीं सकता। जब उसे खुदकी दया आती है तब उसे खुदको अपनी दशामें कर्मबंधनसे मुक्त होनेका पुरुषार्थ उत्पन्न हुए बिना रहता नहीं

और तब ही उसे बंध-मोक्ष आदि पदार्थका यथार्थ स्वरूप यथार्थ प्रकारसे समझमें आता है। इतनी निर्मलता इस पात्रतामें प्रगट होती है।

ऐसी पात्रता तत्काल कब प्रगट हो ? कि जब जीवको खुदके जन्म-मरणकी चिंतना होती है तब। इसी विषय पर उन्होंने खास दो पत्र लिखे हैं। एक पत्र है ८६ नंबरका और दूसरा पत्र है १९५ नंबरका। इन दोनों पत्रोंमें इस विषयका बहुत व्यवस्थित प्रतिपादन करनेमें आया है कि किसी भी जीव (को) अगर कर्मसे छूटनेके मार्गको पाने की इच्छा हुई हो तो, उसे अन्य सभी विकल्पोंको छोड़ देना चाहिये (अर्थात्) धर्मके साधन से सम्बन्धित सब विकल्प छोड़कर यह एक ही विषय पर उसकी चिंतना खड़ी हो तो ही उसे निर्मलता अथवा पात्रता आती है, कि जिस पात्रताके वशात् वह मोक्षमार्गमें प्रवेश कर सकता है। इसके सिवा दूसरा कोई मार्ग है ही नहीं, ऐसा उन पत्रोंमें उन्होंने बहुत ही स्पष्ट प्रतिपादन किया है।

संक्षिप्तमें चलते हुए विषयके अनुसंधानमें लें तो जिस प्रकारकी कर्मजनित अवस्थाका संग है उस संगकी निवृत्ति होना मतलब कि उस सम्बन्धित भानकी निवृत्ति होना। `मेरे पास इतना है और उतना है' इसको भूल जाना पड़ेगा। मूलस्वरूपसे कैसा हूँ ? इसकी अंतरखोज चले बिना किसी भी तरह संगकी निवृत्ति अर्थात् संग सम्बन्धीका भान छूट सके ऐसा नहीं है। जब ऐसा भान छूटता है तब स्वरूपका प्रत्यक्ष भान प्रगट होता है। सहजस्वरूपका अपरोक्ष माने प्रत्यक्ष भान प्रगट होता है।

प्रत्यक्षका यहाँ पर सामान्य अर्थ लेना योग्य नहीं है। सामान्य अर्थात् व्यवहार प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष कहते हैं (जैसे) कि `मैंने नज़रके

सामने प्रत्यक्ष देखा' (वैसे नहीं) व्यवहारमें इंद्रिय - प्रत्यक्षको प्रत्यक्ष ज्ञान कहनेमें आता है। इंद्रियज्ञानमें प्रत्यक्षज्ञानको प्रत्यक्ष कहनेमें आता है। जब कि परमार्थमें तो वही ज्ञानको परोक्षज्ञान बोला जाता है। परमार्थमें प्रत्यक्ष और परोक्षकी परिभाषा अथवा समझ दूसरे प्रकारसे है, कि जो ज्ञान किसी भी इंद्रियके माध्यमका बीचमें अवलम्बन लिये बिना सीधा - सीधा अपने विषयको ग्रहण करे उसे प्रत्यक्षज्ञान कहते हैं। और जिस ज्ञानमें बीचमें पुद्गल इंद्रियोंके निमित्तकी अपेक्षा रहती है उस ज्ञानको परोक्षज्ञान कहा जाता है।

यहाँ, आत्माको जब खुदका भान प्रगट होता है तब कभी भी उसे पाँच इंद्रिय और छट्ठे मनके परमाणुओंके निमित्तकी अपेक्षा बीचमें नहीं रहती है। ज्ञान सीधा ही (स्वयं ही) खुदके ज्ञानस्वरूपी आत्माका ग्रहण करता है अथवा उसको प्रकाशित करता है। खुद ही अपना प्रकाश करता है (अपनेआपको प्रकाशता है)। अत: उसे अपरोक्ष भान अथवा प्रत्यक्षभान कहा जाता है। ऐसा जो भान है वह अपूर्व है। जीवको पूर्वमें कभी अपना ऐसा प्रत्यक्ष भान हुआ नहीं है। और ऐसा भान होते ही जीवके जन्म-मरणकी अनंतताका बीज जल (खत्म हो) जाता है। ऐसा भान प्रगट नहीं होवे तब तक जीवको अनन्त जन्म-मरण करने होगे ऐसा बीजभूत कारण मौजूद है ऐसा समझने योग्य है। इसलिये ऐसा जो अपरोक्षभान प्रगट होता है उसका बहुत महत्त्व है। अर्थात् उसका महत्त्व अनंतगुना है। इस कारणसे अनंतगुना है कि वह अनंत जन्म-मरणके बीजभूत कारणको नाश करनेवाला प्रगट साधन है।

``**इसीलिये**'' अर्थात् ऐसे स्वरूपका भान होने के लिये - ``**...सर्व तीर्थंकरादि ज्ञानियोंने असंगता ही सर्वोत्कृष्ट कही है, कि जिसमें सर्व आत्मसाधन रहे हैं।**'' इसलिये अर्थात् ऐसे स्वरूपका भान होने

के लिये तीर्थंकरादि सर्व ज्ञानियोंने (असंगता कही है)। तीर्थंकर हैं वे परम ज्ञानीपुरुष हैं और इनके सिवा गणधरादि आचार्यों और ज्ञानीपुरुष सब एक ही मतमें (अभिप्रायमें) हैं। किसीका अभिप्राय दूसरा नहीं है। कदापि, कभी भी, ऐसा विचार करने योग्य नहीं है कि एक ज्ञानीसे दूसरे ज्ञानी अलग पड़ते हैं। ऐसा कदापि विचार करने योग्य नहीं है। जब पदार्थका स्वरूप सबको समान (सदृश) समझमें आया है और पदार्थका अनुभव भी सबको एक सरीखा (समान) ही होता है तब फिर उस विषयमें भिन्न-भिन्न अभिप्राय होना या भिन्न-भिन्न समझ होना इस बातको बिलकुल अवकाश ही नहीं रहता है। उसके बावजूद भी उपदेशकी शैली प्रत्येक ज्ञानीकी अलग-अलग दिखनेमें आती है और केवल बाह्य दृष्टिसे उस शैली को देखा जाये तो ऐसा भ्रम होता है कि एक ज्ञानी ऐसा कहते हैं और दूसरे ज्ञानी तो कुछ और ही कहते हैं। वास्तवमें तो दोनोंके बीचमें आशय और मूलस्वरूपके प्रतिपादनके विषयमें किंचित्मात्र भी फ़र्क नहीं होता है और होनेकी संभावना भी नहीं है। यह एक दृढ़तासे समझमें रखने योग्य बात है, वरना भिन्न-भिन्न ज्ञानियोंके लिये भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ हुए बिना रहेगी नहीं और एक नया भ्रम उत्पन्न होगा।

यहाँ पर बहुत स्पष्ट कहा है कि ``**सर्व तीर्थंकरादि ज्ञानियोंने असंगता ही सर्वोत्कृष्ट कही है।**'' असंगता माने क्या ? कि जिस असंगदशामें उपयोग अंतर्मुख होकर, अन्य सर्व पदार्थोंका संग छोड़कर, स्वसंग करके, असंगताको धारण करता है। जो दशा निजके संगसे, अन्य संगसे निवृत्त होकर उत्पन्न होती है, जिसमें स्वरूपका भान प्रगट होता है, प्रत्यक्ष अनुभवगोचर होकर भान प्रगट होता है, उस दशाको असंगता कहा है। और ऐसी असंगताकी

प्राप्तिके लिए ही सर्व प्रकारके आत्मकल्याणके बाह्यसाधन कहे गये हैं। बाह्यसाधनमें विध-विधता है, लेकिन आत्मकल्याणमें विध-विधता नहीं है। जैसे व्यापार करनेमें अनेक प्रकारकी व्यापारमें विध-विधता है लेकिन पैसेकी कमाई करनेमें कोई विध-विधता नहीं है। कोई भी व्यापार करो सबका आशय एक ही होता है। वैसे ही बाह्यसाधन कुछ भी हो सकता है। अन्दरमें आत्मकल्याणकी कमाई एक ही प्रकारकी होती है। और इसीलिए ऐसी जो असंगता है उसे प्राप्त करनेके लिये ही ये सब साधन कहनेमें आये हैं। अगर असंगताकी प्राप्ति नहीं होती है तो वे साधन वास्तवमें साधन नहीं रहते हैं। ``**सौ साधन बंधन थया, रह्यो न कोई उपाय**'' वे साधन नहीं रहते हैं बल्कि वे बंधनके कारण होते हैं।

``**सर्व जिनागममें कहे हुए वचन...**'' आगम अनेक हैं - वह ``**सर्व जिनागममें कहे हुए वचन एक मात्र असंगतामें ही समा जाते हैं;....**'' अर्थात् सर्व आगमके सर्व वचनोंका केन्द्रस्थान-केन्द्रबिंदु एक ही है कि किसी भी तरीकेसे जीवको राग-द्वेष रहित करना, अन्य पदार्थके संगसे रहित करके असंगतामें लाना। सभी आगमोंका यही तात्पर्य है। जिसे हम संक्षिप्तमें, एक शब्दमें वीतरागता भी कहते हैं। सर्व आगमोंका तात्पर्य क्या है ? वीतरागता। आगमोंके सर्व वचन व सर्व गाथाओंका तात्पर्य क्या है ? वीतरागता। इसके अलावा दूसरी कोई बात उसमेंसे निकलती नहीं है। वीतरागियोंकी कही हुई बातें वीतरागता (होने) के लिये हैं, कोई अन्य हेतुसे होना संभव नहीं है। और अन्य हेतु होनेकी कल्पना कदापि करने जैसी भी नहीं है। जो बात खुद प्रगट परिणमन करके कहते हैं, उसमें दूसरी बातका विकल्प या कल्पना क्यों करना ? (अर्थात्) होनेका अवकाश ही नहीं है।

``**सर्व जिनागममें कहे हुए वचन एक मात्र असंगतामें ही समा जाते हैं; क्योंकि वह होनेके लिये ही वे सर्व वचन कहे हैं।**'' एक ही हेतु है अन्य कोई हेतु नहीं है। अन्य पत्रमें कृपालुदेवकी स्पष्ट सूचना (आज्ञा) है कि ज्ञानीके वचनोंका लौकिक अर्थघटन नहीं करना चाहिए। जिस पारमार्थिक हेतुसे ये वचन कहे गये हैं उसी पारमार्थिक हेतुसे इन वचनोंका विचार कर्त्तव्य है अर्थात् समझने योग्य है। अन्य (कोई) प्रकारसे उसकी कल्पना नहीं होनी चाहिये। कहते हैं कि, ``**सर्व जिनागममें कहे हुए वचन एक मात्र असंगतामें ही समा जाते हैं; क्योंकि वह होनेके लिये,**'' वह होनेके हेतुसे, ``**वे सर्व वचन कहे हैं।**''

अब इस विषयका बहुत-बहुत ही सुंदर स्पष्टीकरण देते हैं कि, ``**एक परमाणुसे लेकर चौदह राजुलोककी और निमेषोन्मेषसे लेकर शैलेशीअवस्था पर्यंतकी सर्व क्रियाओंका जो वर्णन किया गया है, वह इसी असंगताको समझानेके लिये किया है।**'' क्या कहना चाहते हैं ? आगम जो है - जिनागम है उसके चार विभाग देखनेमें आते हैं। द्रव्यानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और कथानुयोग। उसमें करणानुयोगके अन्दर चौदह ब्रह्मांडकी बात आती है अथवा चौदह राजलोककी बात आती है तो वह चौदह राजलोक क्या है ? कि जीवके कर्म भुगतनेका स्थान है। ``**ते ते भोग्य विशेषना स्थानक द्रव्य स्वभाव**'' जीव अपने कर्म भुगतनेके लिये चौदह ब्रह्मांडमें जन्म-मरण कर रहा है। एक परमाणुकी बात द्रव्यानुयोगमें आती है। अत: द्रव्यानुयोगका विषय हो, या करणानुयोगका विषय हो, (या) जिनागमका कोई भी विषय हो, वे (सब) उपयोगको सभी जगहसे हटाकर एक स्वरूपमें समानेके लिये, असंगता उत्पन्न करनेके लिये कहे गये हैं। चौदह राजलोक वह भले ही जगतकी रचना है लेकिन

वह निजस्वरूप (को) समझानेके लिये हैं। इसके पीछे अन्य कोई हेतु नहीं है। ज्ञानका प्रदर्शन करनेका कोई हेतु नहीं है, बल्कि जीवका स्वरूप समझाकर, उपयोग स्वरूपमें समा जाये इस हेतुसे (यह) बात की है। और इस प्रकारका (Motive) दृष्टिकोण उन्होंने पत्र ६७९में स्पष्ट किया है। ६७९ का जो पत्र है उसमें एक परमाणु, एक समयकी और एक प्रदेशकी चर्चा की है।

देखिये, (पत्रांक) ६७९। पृष्ठ ५०४ ``**कालका सूक्ष्मसे सूक्ष्म विभाग `समय' है, रूपी पदार्थका सूक्ष्मसे सूक्ष्म विभाग `परमाणु' है, और अरूपी पदार्थका सूक्ष्मसे सूक्ष्म विभाग `प्रदेश' है।**'' इस प्रकारके सूक्ष्म विषयोंकी चर्चा करनेके पीछे आशय क्या है ? वह उन्होंने निकाला है। यहाँ इसमें ज्ञानीपुरुषोंका पारमार्थिक दृष्टिकोण कैसा होता है ? हो सकता है ? इसका स्पष्ट प्रमाण (चितार) मिलता है। अब, बात चाहे एक समयकी हो या एक प्रदेशकी हो या एक परमाणुकी हो, उसमेंसे पारमार्थिक विषय कैसे निकलता है ? (वह इस तरह होता है कि) ऐसा ज्ञान किसको हो सकता है ? कि जो वीतराग सर्वज्ञ हो, उनको होता है। जो सर्वज्ञ होते हैं उन्हीं को ऐसा ज्ञान हो सकता है। सर्वज्ञ कौन हो सकते हैं ? कि जो सर्वथा वीतराग हो वह होते हैं। वही सर्वज्ञ हो सकते हैं। अत: इस एक परमाणुका उल्लेख यह दिखाता है कि जिसको वीतराग होना है उसके लिये यह विषय है। इस तरह उसमेंसे परमार्थ निकाला है। पढ़नेसे विषय बहुत लंबा चले ऐसा है। (इसलिये) इसका संक्षेप यह है कि एक परमाणुकी बात भी अगर आगम करता है तो वह वीतराग होनेके लिये ही करता है। और चौदह ब्रह्मांडकी बात करता है तो भी वीतराग होनेके लिये करता है, ऐसा कहते हैं। (जिनागममें) एक परमाणुसे लेकर चौदह राजलोककी चर्चा अथवा

वर्णन और निमेषोन्मेषसे लेकर शैलेशीअवस्था पर्यंतकी सर्व क्रियाओंका वर्णन किया है। निमेषोन्मेष माने आँखोंका खुलना और आँखोंका बंद होना। निमेष और उन्मेष, निमेष माने आँखोंका बंद होना और उन्मेष माने आँखें खुलना। अर्थात् आँखोंका जो झपकना होता है उसमें आँख बंद होती है, खुलती है, बंद होती है और खुलती है। ऐसी एक सबसे छोटी से छोटी क्रियाका जो वर्णन आता है और शैलेशीअवस्था माने शुक्लध्यानकी जो अंतिम अवस्था है (वह); - यहाँ शैलेश माने पर्वत, पर्वत जैसे स्थिर होता है, कभी नहीं हिलता है, वैसे ही यह शैलेशीकरण जो ध्यान है, वह पर्वत जितना मज़बूत है। चाहे चौदह ब्रह्मांड हिले फिर भी वह ध्यानस्थ दशामें विचलितता नहीं होती है। ऐसी स्थिर दशा और एक झपक (पलक) जैसी अस्थिर दशा, इन दोनों क्रियाओंका जो वर्णन जिनागममें करनेमें आया है, वह इसी असंगताको समझानेके लिये किया है। उसमेंसे (साररूप) असंगता (ही) निकाली है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि शैलेशीअवस्थामें तो आत्मध्यान स्पष्ट है लेकिन निमेषोन्मेषमेंसे वीतरागता कैसे निकलती है ? कि ऐसी छोटी बातमेंसे भी वीतरागता निकलती है, क्या ? आँखोंका झपकना क्या दिखाता है ? (यह) कि चक्षु इंद्रियके उपयोगकी चपलता और चंचलताको दिखाता है और वह झपकनेका कब कम होता है ? जब जीव स्वरूपध्यान करके अंतर्मुखताका पुरुषार्थ करे तब। तब यह झपकनेकी चंचलता जो है वह बिलकुल (बहुत) कम हो जाती है। किसीको तो वह झपकना ही बंद हो जाता है या फिर किसीको लंबे अरसेके बाद एक दफा झपकना होता है। ऐसा जो निष्चंचलता और चंचलताका विषय है, वह परिणामकी अंतर्मुखता और बहिर्मुखताको सूचित करनेवाला है और उसमेंसे असंगता कैसे उत्पन्न करनी ? अथवा

उपयोगको कैसे अंतर्मुख करना ? इस विषयकी चर्चा जिनागम करते हैं। वह ध्यानकी प्राथमिक अवस्था है। स्वरूपध्यानकी वह शुरूआतकी अवस्थासे लेकर बारहवें गुणस्थानमें जो शैलेशीअवस्था प्रगट होती है वहाँ तककी चर्चा सिर्फ आत्माको वीतराग होने (बनने) के लिये, अंतर्मुख होने के लिये, असंग होने के लिये कही है। इसके सिवा अन्य कोई आशय उसके पीछे नहीं है।

ऐसी जो असंगता है वह दुष्कर है (ऐसा कहते हैं)। ``**सर्व भावसे असंगता होना यह सबसे दुष्करसे दुष्कर साधन है;...**'' यह साधन है, मोक्षमार्ग साधन है और मोक्ष है वह साधनका साध्य है। अंतर्मुख होना, उपयोगको असंगतापूर्वक सर्वभावोंसे छुड़ा देना, ऐसा जो मोक्षमार्गका साधन है वह साधन कठिन है और दुष्कर है अर्थात् आसान नहीं है। और यह बात समझमें भी आ सकती है कि, जीवका उपयोग कितना चंचल होकर अन्य पदार्थोंमें लगा हुआ है। यह बात कोई भी मनुष्य अपने वर्तमान परिणमनमें हो रहे अनुभवके आधारसे समझ सके (ऐसा) है। मन ज़रा भी स्थिर नहीं रहता है। पाँचों इंद्रियोंके विषय भले ही आपके सामने न हो, और उपयोगपूर्वक उसकी प्रवृत्ति भी न हो, लेकिन यह मन किसीका स्थिर रहता नहीं है। यह सर्वसामान्य सभी मनुष्योंको अनुभवमें आये ऐसी बात है। उसे - (उपयोगको) स्थिर करना और वह उपयोगको आत्मस्वरूपमें लगाना, यह कोई सामान्य बात नहीं है। अनंतकालमें भी नहीं हो सका - अनंतकालमें भी दुर्लभ (है) ऐसी यह बात है। यह साधन दुष्कर है।

यहाँ से उनको (कृपालुदेवको) इस पत्रके मूल विषयका अनुसंधान करना है। इतनी बातका प्रतिपादन करनेके बाद अब मूल विषय पर आना चाहते हैं, कि यहाँ जब इस प्रकारसे साधना और आराधना

है वह इतनी दुष्कर है तो फिर इसका कोई उपाय है कि नहीं है ? तो (कहते हैं) कि ``**वह निराश्रयतासे सिद्ध होना...**'' अर्थात् प्राप्त होना वह तो ``**..अत्यन्त दुष्कर है।**'' निराश्रयतासे अर्थात् किसीके भी अवलम्बन (आश्रय-आधार) बिना अपने आप ऐसा साधन प्राप्त नहीं हो सकता। भले ही उपयोगको आत्मामें ले जाना है, परिपूर्ण अंतर्मुख होना वैसा जीवका परिणाम स्वभाव (है) और (ऐसी) शक्ति आत्मामें रही हुई है, ऐसा आत्माका स्वरूप ही है फिर भी यह स्वरूप निराश्रयतासे किसीको प्रगट हुआ नहीं और होगा भी नहीं। इसके लिए कोई आश्रयस्थान चाहिए - यह एक वस्तुस्थिति है।

जीव अनादिसे उलटा चल रहा है। उलटा चल रहा है यानी कि उसके परिणाम उलटे चल रहे हैं। सीधे चलते ही नहीं हैं और अनंतकालसे ऐसा ही चल रहा है। ऐसे जीवको सुलटे परिणाम करनेके लिए उलटे परिणाम जो हैं उन परिणामोंको सुलटा होने के लिये, वे सत्संगका आश्रय लेकर सुलटे होंगे। जैसे घड़ा उलटा पड़ा हो, वह सुलटा होवे तब टेढ़ा होनेके बाद सुलटा होता है, ऐसे ही सीधा कोई सुलटा कर सकता है क्या ? नहीं हो सकता। क्योंकि होनेमें १८० डिग्रीका एंगल है, बराबर ! तो फिर उसमें एक-एक डिग्री बढ़ते-बढ़ते १८० डिग्री तक पहुँचेगा कि सीधा ही १८० डिग्री हो जायेगी कि ९० डिग्री तक टेढ़ा होते हुए फिर सुलटा (सीधा) होगा ? ऐसी एक वैज्ञानिक वस्तुस्थिति है। वैसे ही जीवके परिणाममें भी (है), अनादिसे उलटे चल रहे परिणामको सुलटा होनेके लिए बीचमें कोई आश्रय चाहिए। और उस आश्रयको यहाँ तीर्थंकरदेवने सत्संग कहा है। उस आश्रयको क्या कहा है ? सत्संगको आश्रय बतलाया है। देखिये ! ``**वह निराश्रयतासे सिद्ध होना अत्यन्त दुष्कर है। ऐसा विचारकर श्री तीर्थंकरने सत्संगको उसका आधार**

कहा है,..'' मैं कहता हूँ ऐसे नहीं कहा, बल्कि यह तो तीर्थंकरदेवकी कही हुई बात है। सर्वज्ञ परमात्माने केवलज्ञानमें देखकर और स्वयं उसका अनुभव करके कही हुई बात है। सत्संगके आधारसे असंगता होती है, और सत्संगके आधार बिना असंगता नहीं होती है यह बात श्री तीर्थंकरदेवने खुदके अनुभवज्ञानसे कही हुई है। इसीलिये इस विषयका खुद भी प्रतिपादन करते हैं। क्योंकि खुद भी उसी अभिप्रायमें हैं और उसी अनुभवमें हैं।

``**ऐसा विचारकर श्री तीर्थंकरने सत्संगको उसका आधार कहा है,..**'' देखिये ! कैसा शब्द इस्तेमाल किया है ! सत्संग उसका (असंगताका) कारण है ऐसा नहीं कहा, (बल्कि) सत्संगको उसका आधार कहा है। कि एक बार तुझे आश्रय लेना पड़ेगा। अन्य पदार्थोंका आश्रय तो तुझे वर्तता ही है, जड़का, शरीरका, पुद्गल पदार्थका आश्रय तो तुझे वर्तता ही है; अब, बीचमें (पहले) एक सत्संगका आश्रय कर लें ! तब जाके स्वरूपका आश्रय होनेकी तेरी बारी आयेगी। सीधा ही स्वरूपका आश्रय होनेकी बारी नहीं आ सकती। इसीलिये बीचमें उसको (सत्संगको) आधार कहा है। उसे आधार कहा है, ``**कि जिस सत्संगके योगसे जीवको सहजस्वरूपभूत असंगता उत्पन्न होती है।**'' कि जिस सत्संगके योगसे ऊपर कही ऐसी असंगता उत्पन्न होती (है) कि जो असंगता सहजस्वरूपभूत है। जैसा स्वरूप है वैसी ही है। इसलिए स्वरूपभूत-ऐसा शब्दप्रयोग किया है। वह स्वरूपकी अंगभूत है। जैसा स्वरूप है वैसी ही है - उसमें कुछ फ़र्क़ नहीं है। ऐसी असंगता उत्पन्न होने के लिए सत्संगको जो आधार कहा है उस आधारको जब तक समझनेमें नहीं आता है तब तक जीव दूसरे - दूसरे मिथ्या प्रयत्न - योगके, ध्यानके, विचारणाके, चिंतवनके - करता है, फिर भी उसके (वे साधन) कभी

सफल नहीं होते हैं। इसीलिए इस विषय पर कृपालुदेवको अधिक प्रकाश डालना है - विशेष प्रकाश डालना है। और इसी वज़हसे इस पत्रका विस्तार करनेमें आया है। बाकीका शेष अंश जो है (वह) कल शामके स्वाध्यायमें लेंगे। आजका समय समाप्त हुआ।

यथार्थ प्रयोगमें स्वकार्यका रस बढ़ता जाता है, थकान नहीं आती - यह प्रयोगका यथार्थ स्वरूप (लक्षण) है।

जो भिन्न है उसका भिन्न अनुभव करें तो सुखी हुए बिना नहीं रहता, और जो भिन्न है उसका भिन्न अनुभव नहीं करें तो दुःखी हुए बिना नहीं रहता।

(-पूज्य भाईश्री)

(श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत पत्रांक ६०९ चल रहा है।) असंगदशा माने वीतरागदशारूप धर्म उसकी प्राप्ति होनेके लिए सत्संग आधारभूत है, कि जिस सत्संगके योगसे सहजस्वरूपभूत असंगता उत्पन्न होती है। ठीक वैसे ही श्री तीर्थंकरदेवने वीतरागता उत्पन्न होने के लिए सत्संगको आधार कहा है। ``**वह सत्संग...**'' अर्थात् यथार्थ सत्संग। जीवको आत्मकल्याणमें निमित्तभूत होवे ऐसा यथार्थ सत्संग। ``**वह सत्संग भी जीवको कई बार प्राप्त होनेपर भी फलवान नहीं हुआ, ऐसा श्री वीतरागने कहा है,...**'' ज्ञानीपुरुषका यथार्थ सत्संग प्राप्त होनेपर भी सत्संग फलवान नहीं हुआ ऐसा अनेकबार बना है। अर्थात् अभी तक ऐसा ही बना है, कि सत्संग तो मिला है लेकिन सत्संग फलवान नहीं हुआ है। यद्यपि जगतके सर्व प्रसंग और सभी पदार्थोंसे सत्संगकी दुर्लभता, यथार्थ सत्संगकी दुर्लभता बहुत है, फिर भी अनंतकालमें अनेकबार सत्संग प्राप्त होनेपर भी वह सत्संग निष्फल

ही गया है, ऐसा ही बना है।

सत्संग क्यों निष्फल गया ? ``**क्योंकि उस सत्संगको पहचानकर इस जीवने उसे परम हितकारी नहीं समझा,...**'' क्योंकि सत्संग परम हितकारी है ऐसी पहचान हुई नहीं। जैसे दूसरे धार्मिक प्रसंग ऐसे ही, बिना गंभीरताको समझे व्यतीत होते हैं, जैसे (वह) एक प्रकारका उदय है (और) उस उदयमेंसे जीव पसार होता है, वैसे ही महत् पुण्यके योगसे प्राप्त ऐसा यथार्थ सत्संग वह भी जैसे मानो सामान्य उदय हो वैसे व्यतीत हुआ है। परम हितकारी है ऐसा समझा नहीं यानीकि उसका जितना महत्त्व आना चाहिए वह नहीं आया। उसका जितना मूल्य भासित होना चाहिए उतना मूल्य भासित नहीं हुआ अर्थात् उसका मूल्य कितना होना चाहिए ? उसका मूल्यांकन कितना होना चाहिए ? कि जिससे सत्संग फलवान होवे ! इस विषयको कृपालुदेवको यहाँ स्पष्ट करना है। ``...**इस जीवने उसे परम हितकारी नहीं समझा, परमस्नेहसे उसकी उपासना नहीं की,....**'' एक तो परम हितकारी है ऐसा जाना नहीं, ऐसी पहचान हुई नहीं और इसीलिए परमप्रेमसे उसकी उपासना हुई नहीं। (क्योंकि) उपासना करनी एक बात है, सिर्फ़ सुनना वह दूसरी बात है। यहाँ पर सत्संगमें सिर्फ़ सुननेकी क्रिया होती है उपासनेकी क्रिया नहीं होती है; इसलिए ही सत्संगके प्रति जो मूल्यांकन आना चाहिए - उसका जो मूल्य होना चाहिए, वह नहीं आया।

सुननेमें और उपासनेमें क्या फ़र्क़ है ? ऐसा प्रश्न यहाँ हो सकता है। उपासना माने सत्संगमें प्राप्त उपदेश, खुदके योग्य ऐसा जो उपदेश, खुदपर लागू होवे ऐसा जो उपदेश - उसका अमलीकरण करना, उसको अमलमें रखना, उसे `उपासना' कहा जाता है। बहुभाग तो ऐसा ही बनता है कि सत्संगमें क्या कहना चाहते हैं ? उसे

समझनेमें ही काफी समय व्यतीत होता है अथवा समझनेकी भाँजगड़मेंसे जीव पसार होता है, तब कुछ न कुछ संतोष पकड़ लेता है कि अब तक जो नहीं समझमें आया था वह अब कुछ मेहनत करनेसे समझमें तो आया ! तब मानो जैसे ज्ञानकी प्राप्ति हो गई ऐसा समझ लेता है। लेकिन समझनेके बाद जब उस समझका सदुपयोग हो, तब कार्य पूर्ण होता है। जब कि समझनेके बाद तो कार्य शुरू करनेका, प्रारंभ करनेका होता है उसके बजाय समझमें आया और उसका संतुष्टपना हुआ, तो ऐसी एक नयी भूल हो जाती है। इसलिये यहाँ ``सत्संगकी उपासना नहीं की'' - ऐसा कहा। सत्संगमें बात सुनी नहीं ऐसा नहीं कहा बल्कि उसकी उपासना नहीं की, उसका अमलीकरण नहीं किया और वह भी स्नेहसे। परम स्नेहसे माने अति उमंगसे। मेरे हितकी बात है, मेरे परम हितकी बात है और इसीलिए शीघ्रातिशीघ्र, त्वरासे यह कार्य मुझे अभी ही करना चाहिए इस प्रकारके परम स्नेहसे, परम उमंगसे, परम उत्साहसे उसकी उपासना नहीं हुई है। वरना तो सत्संग निष्फल जाये ऐसा बने ही नहीं।

एक जगह कृपालुदेव लिखते हैं कि, ``**यथार्थ सत्संग मिले और जीवका कल्याण न हो तो इस विश्वमें वह ग्यारहवाँ आश्चर्य है।**'' दस आश्चर्य तो गिने जाते होंगे, कोई ऐतिहासिक जगह या कोई ऐतिहासिक मकान या कोई ऐतिहासिक प्रसंग, लेकिन यह एक अधिक ग्यारहवाँ आश्चर्य है। कहना ऐसा चाहते हैं कि यथार्थ सत्संग मिलता है तो जीवका कल्याण अवश्य - अवश्य होता ही है। फिर भी अगर न हो, तो इसे एक आश्चर्यकारी बात समझनी चाहिए। ``**परमस्नेहसे उसकी उपासना नहीं की, और प्राप्तका भी...**'' अर्थात् प्राप्त होनेपर भी, सत्संग मिलने पर भी, - ``**अप्राप्त फलवान**

होनेयोग्य संज्ञासे विसर्जन किया है,..'' ऐसा कहा है। श्री वीतरागने क्या कहा ? कि सत्संग मिलने पर भी, जिसको प्राप्ति नहीं हुई हो, ``**अप्राप्त फलवान होनेयोग्य संज्ञासे....**'' अर्थात् जिस जीवको सत्संग न मिला हो और उसकी जैसी हालत होती है, वैसी ही हालतमें जीव रहा और उस सत्संगके उदयप्रसंगको विसर्जन किया - पूर्ण किया। ऐसे भावमें रहा कि प्राप्त, फिर भी `**अप्राप्त फलवान**' (अर्थात्) अप्राप्तिसे जो फल आता है, ऐसे ही फलमें उसने (सत्संग) प्राप्तिका प्रसंग पूरा किया। यह एक बहुत बड़े अफ़सोसकी बात है।

जीवको आत्मकल्याणके हेतुभूत प्रसंग ऐसा सत्संग प्राप्त होनेपर भी जब जीव अगर परलक्षसे उस सत्संगमें उपस्थित रहता है तब जीवको ऐसा नुक़सान होता है। दूसरे भी कुछ ऐसे परिणाम होते हैं जिन्हें खुद आगे स्पष्ट करना चाहते हैं - स्पष्ट(रूपसे) कहना चाहते हैं।

``**प्राप्तका भी अप्राप्त फलवान होनेयोग्य संज्ञासे विसर्जन किया है, ऐसा कहा है। यह जो हमने कहा है उसी बातकी विचारणासे...**'' इस विषयकी विचारणासे, इसी बातकी विचारणासे, ``**...हमारे आत्मामें आत्मगुणका आविर्भाव होकर सहज समाधिपर्यंत प्राप्त हुए, ऐसे सत्संगको मैं अत्यंत अत्यंत भक्तिसे नमस्कार करता हूँ।**'' देखिये ! कृपालुदेवको (भी) सत्संगका कितना मूल्य था ? यह बात उन्होंने स्वयंके आत्मसाक्षात्कारसे कही है कि सत्संगके मूल्यकी बात करते हुए और उसकी विचारणामें हमारे परिणाम लगनेसे, हमारे जो आत्मगुण हैं वे आविर्भूत होने लगे और वे आविर्भूत होते - होते सहजसमाधि - निर्विकल्पदशा जिसे कहते हैं, ऐसी जो सहजसमाधि है उसे प्राप्त हो गये। इस पत्रको लिखते वक्त कृपालुदेवको सत्संगकी

बहुत महिमा आयी है और यह सत्संगकी जो महिमा है वही आत्मस्वरूपकी महिमा है। आत्माके हितकी बात की विचारणा चल रही है और इस विचारणासे स्वयंका जो परिणमन है, वह अंतर परिणमन विशेष उग्र होता है। आविर्भूत होकर शुद्धोपयोगमें परिणमन करने लगता है। ऐसे आत्मकल्याणके हेतुभूत ऐसे सत्संगको खुद नमस्कार करते हैं। अत्यंत - अत्यंत भक्तिसे नमस्कार करते हैं।

इतना मूल्यांकन सत्संगका आये और आत्मकल्याण न हो ऐसा मुमुक्षुजीवको होना संभव नहीं है। और इतना मूल्यांकन न आये और आत्मकल्याण हो जाय ऐसा होना भी संभव नहीं है, इतनी (बात) यहाँसे स्पष्ट निकलती है। एक तो, जगतमें यथार्थ सत्संग ही उपलब्ध नहीं है, प्राप्त नहीं है। (जैसे) जगतमें चाहे कोई भी पदार्थकी या किसी भी व्यक्तिकी कमी हो, फिर भी पूरे विश्वमेंसे वैसे दस, बीस, पच्चीस व्यक्ति मिल सकते हैं। ६०० करोड़के करीब आबादीवाले इस विश्वमें टॉप लेवलके (उच्च स्तरके) दस-बीस व्यक्ति मिल सकते हैं, लेकिन दस-बीस ज्ञानी मिले, ऐसा युग या ऐसा जमाना अब नहीं है। यानीकी दस-बीस जगह यथार्थ सत्संगकी प्राप्ति हो जाय - परम सत्संगकी प्राप्ति हो जाय ऐसी परिस्थिति अब नहीं रही और इसलिए इसकी दुर्लभता बहुत है। और (उसका) मूल्य तो, आत्मकल्याण हो जाये उसका (मूल्य) करनेके लिए तो जगतमें कोई ऐसा पदार्थ ही नहीं है। उसकी उपमा दें सके ऐसा कोई दूसरा पदार्थ जगतमें है ही नहीं। इस तरह जीवका आत्मकल्याण होने के लिए यह अनुपम साधन है इसलिए ही (कृपालुदेव) सत्संगकी महिमा करते-करते सत्संगकी भक्ति करते हैं - उसे नमस्कार करते हैं।

``**अवश्य इस जीवको प्रथम सर्व साधनोंको गौण मानकर निर्वाणके**

मुख्य हेतुभूत सत्संगकी ही सर्वार्पणतासे उपासना करना योग्य है;...'' कृपालुदेवकी यह सीधी आज्ञा हुई कि ``**अवश्य इस जीवको प्रथम सर्व साधनोंको गौण मानकर...**'' (अर्थात्) धर्मके दूसरे कोई भी साधनको गौण करना और सत्संगको मुख्य करना, ऐसा कहते हैं। जैसे कि अभी पर्युषणके दिन चल रहे हैं, इन दिनोंमें बहुभाग संप्रदायकी रूढ़ि अनुसार उपवास करनेकी पद्धति है, बहुत (लोग) उपवास करते हैं। कोई एक उपवास करता है, कोई दो करते हैं, कोई चार करते हैं (फिर) शारीरिक अशक्ति उत्पन्न होती है और सत्संगको उपासनेके बजाय अशक्ति के कारण सत्संग छोड़नेकी परिस्थिति आ जाती है, तो क्या करना ? अथवा ऐसा दूसरा कोई धार्मिक प्रसंग साथमें हो, जैसे कि एक जगह पर सत्संग चलता हो और दूसरी जगह भक्ति चलती हो (तो) (हमें) कहाँ जाना ? जिनेन्द्र भगवानकी भक्तिको मुख्य करना ? कि सत्संगको मुख्य करना ? इस प्रकार कोई भी प्रसंग (अर्थात्) सत्संगके Parallel कोई धर्मसाधनके प्रसंग उत्पन्न होते हों तो क्या करना चाहिए ? कृपालुदेवने इसके सम्बन्धित स्पष्ट मार्गदर्शन इस जगह दिया है कि कोई भी दूसरे धर्मसाधन हो उन सभी साधनोंको गौण जानना। आत्मकल्याण के लिए सत्संग जैसा साधन हमने जाना नहीं, देखा नहीं, सुना नहीं (ऐसा) एक पत्रमें आता है। अर्थात् इस विषयमें यह उनकी अनुभवकी पुकार है और सभी मुमुक्षुजनके लिए यह उनकी स्पष्ट आज्ञा है ऐसा ही हमें सोचना चाहिए।

``**अवश्य इस जीवको प्रथम सर्व साधनोंको गौण मानकर, निर्वाणके मुख्य हेतुभूत...**'' (सिर्फ़) सम्यक्दर्शनका मुख्य हेतु नहीं कहा। उसका फल सीधा निर्वाण ही है। उस निर्वाणका मुख्य कारण ऐसा यह सत्संग है। ऐसे सत्संगकी (सिर्फ़) उपासना कर्त्तव्य है। (इतना)

ही नहीं (लेकिन) सर्वार्पणतासे इसकी उपासना कर्त्तव्य है। सर्वार्पणबुद्धिसे उपासना करने योग्य है। इसके लिए कुछ भी भोग देना पड़े, या (चाहे) कितनी भी अर्पणता करनी पड़े ऐसा हो, तो भी यह करने योग्य है। क्यों ? (क्यों)कि उससे होनेवाला जो निर्वाणका लाभ - भविष्यमें जो निर्वाणका लाभ होनेवाला है उसकी बराबरीमें कौनसा ऐसा प्रसंग है या कौन सा ऐसा पदार्थ है ? कि जिसको मुख्य करके सत्संगकी गौणता की जाय ? ऐसी गौणता विचारवान जीव तो नहीं करेगा।

मुमुक्षुजीव अर्थात् विचारवान जीव। कृपालुदेवकी मुमुक्षुजीवके लिए व्याख्या ही ऐसी है, कि मुमुक्षु अर्थात् विचारवान जीव। जो जीव आत्महितका यथार्थ प्रकारसे विचार कर सके, वही मुमुक्षु है। स्वयंके आत्महितकी जिसे सूझ न आये, या सूझ आये उतनी खुदकी मतिकी निर्मलता न हो ऐसा मनुष्य चाहे कितना भी बुद्धिशाली हो फिर भी इस विषयमें, इस क्षेत्रमें उसे अविचारी गिननेमें आता है। विचारवान तो नहीं गिना जाता बल्कि अविचारी गिना जाता है, क्योंकि सत्संग है वह निर्वाणका यानीकि मोक्षका मुख्य कारण है, और उसकी उपासना सर्वार्पणबुद्धिसे ही होनी चाहिए। जहाँ तक ऐसा मूल्यांकन न आये वहाँ तक उस सत्संगका लाभ प्राप्त नहीं होता है। अथवा इस सत्संगसे जो गुण (उत्पन्न) होना चाहिए वह गुण भी (उत्पन्न) नहीं होता है।

(अगर) इसकी सर्वार्पणतासे उपासना की जाये तो इससे सर्व साधन सुलभ होते हैं। फिर परमार्थके जो भी दूसरे साधन हैं वे पारमार्थिक हेतुसे सुलभ होते हैं, वरना ``**सौ साधन बंधन थया...**'' वैसी परिस्थिति होगी। ``**कि जिससे सर्व साधन सुलभ होते हैं, ऐसा हमारा आत्मसाक्षात्कार है।**'' स्वयंके आत्माकी साक्षी देते हुए बात

करते हैं। अथवा साक्षात् आत्माके अनुभवसे यह बात करते हैं। उसके लिए सबूतमें खुदके आत्मसाक्षात्कारको बताया है। खुदको जो अनुभव हुआ है उस अनुभवको पेश करते हैं। जैसे कोई एक अच्छी कंपनी हो तो हमको उस पर विश्वास आता है और हम लोग उस कंपनीके शेयरमें इन्वेस्टमेन्ट (पैसा रोकना) करते हैं, या फिर उस कंपनीकी कोई भी प्रोडक्ट हो उसके पूरे पैसे देकर हम खरीदते हैं। (क्योंकि) समझते हैं (जानते हैं) कि यह चीज़ महँगी जरूर है लेकिन इसकी क्वालिटी अच्छी है, इसलिए विश्वास रखकर आदमी वहाँ पैसा खर्च करता है। कृपालुदेवके आत्मसाक्षात्कार पर हमको कितना विश्वास है ? यदि हम सत्संगकी उपासनामें सर्वार्पणतासे दूसरे सभी अन्य साधनोंको गौण मानकर चलें तब तो हमें उनके साक्षात्कारमें विश्वास है वरना उनके साक्षात्कारके प्रति हमको विश्वास है कि नहीं ? यह बात भी विश्वसनीय नहीं रहती है। अर्थात् हमें विश्वास नहीं है यह बात सिद्ध होती है।

विश्वास किसके ऊपर किया जा सकता है ? विश्वास (भरोसा) करने कि लिए नीति-नियम क्या-क्या हैं ? कि `जो प्रमाणिक हो उसके ऊपर विश्वास करना।' अप्रमाणिक मनुष्य पर कोई विश्वास नहीं रखता। अब ये जो महापुरुष हैं वे पवित्र पुरुष हैं, जिन्होंने पवित्र वीतराग धर्म प्रगट किया है, पवित्र ऐसे आत्मगुण अपूर्वतासे प्रगट किये हैं, ऐसे-ऐसे अपूर्वगुणोंके जो धारक हैं, उनके आत्मसाक्षात्कारके प्रति अगर हमें सचमुच विश्वास आयेगा तब अवश्य हमारी सत्संगकी सर्वार्पणतासे उपासना होगी ही और अवश्य उसका - आत्महितका जो लाभ होने योग्य है वह होगा, होगा और होगा ही। ऐसे सचोट (स्पष्ट) व सुंदर तरीकेसे कृपालुदेव जैसे महापुरुषने यहाँ प्रतिपादन किया है। और ऐसा होनेके बावजूद भी अगर हम

उनका अनुसरण नहीं करते हो तो फिर सत्संग मिलने पर जो लाभ होना चाहिए वह कैसे होगा ?

``**उस सत्संगके प्राप्त होनेपर यदि इस जीवको कल्याण प्राप्त न हो तो अवश्य इस जीवका ही दोष है;...**'' इसमें सत्संगका कोई दोष नहीं है। ``**उस सत्संग...**'' यानी यथार्थ सत्संग, ``**प्राप्त होनेपर भी यदि इस जीवको कल्याण प्राप्त न हो...**'' - आत्महितकी प्राप्ति न हो तो ``**अवश्य इस जीवका ही दोष है;...**'' अर्थात् अवश्य यह जीव दूषित है। खुद ही दोषित है। उसमें किस प्रकार दोषित है कि - ``**क्योंकि उस सत्संगके अपूर्व, अलभ्य और अत्यंत दुर्लभ योगमें भी उसने उस सत्संगके योगके बाधक अनिष्ट कारणोंका त्याग नहीं किया।**'' जीवने यह भूल की है। एक तरफ सत्संगमें आत्मकल्याणकी बातोंका श्रवण करता हो, विचारणा करता हो, और दूसरी ओर उसी आत्मकल्याणके बाधक ऐसे परिणाम चालू रहते हों तो फिर वह सत्संग निष्फल जाये उसमें कौनसा आश्चर्य है। (यानी) कि वह अवश्य निष्फल जायेगा ही। इसलिए दूसरे पहलूकी भी संभाल होनी चाहिए। जो (जीव) अपने परिणामोंके दूसरे पहलूको नहीं देखता है और मात्र श्रवणादिसे संतुष्ट होता है (उसका सत्संग फलवान नहीं होता है) श्रवण या वांचन, चर्चा जो भी कहो उससे वह संतुष्ट होता है कि हम सत्संग तो करते हैं न ! लेकिन सत्संग करते हो तो फिर तुम्हारे जीवन पर (खुदके) परिणमन पर उसका असर क्या आया ? इसको अगर देखा नहीं जाये और इसके बजाय परिणमन या जीवन जिस तरह पहले चलता था उसी तरह चलता रहे तो वास्तवमें उसने सत्संगकी उपासना नहीं की है।

इस विषयमें कोई खास, (विशिष्ट बात) कोई है तो (वह) ऐसी है कि, सत्संगके दौरान खुदपर लागू हो ऐसी कौन-कौनसी बातें

(आती हैं) ? खुदको अपने परिणमनमें सुधार हो, उपयोगी हो ऐसी कौनसी बातें आती हैं ? इस बात पर लक्ष्य रखना जरूरी है। अगर आत्मलक्षी स्वाध्याय होगा तो ही ऐसा लक्ष्य रहेगा वरना खुदके प्रयोजनकी बात पर लक्ष्य नहीं जायेगा और जो अप्रयोजनभूत विषय चलता होगा उस पर लक्ष्य रहेगा। और नतीजा यह आयेगा कि उस सत्संगसे कुछ फायदा नहीं होगा। प्राय: ऐसा बनता है। सत्संग व स्वाध्यायका यह एक बुनियादी नियम है कि वे स्वलक्षी प्रवृत्तिसे होने चाहिए। किसी भी दूसरेका विचार किये बिना, या सत्संगमें आनेवाले किसी भी जीवका विचार किये बिना, और इधर-उधर देखे बिना एकमात्र अपने लक्ष्यसे ही सत्संग करता हो तो ही वह सत्संग सफल होगा; अन्यथा सत्संग निष्फल जायेगा। इस तरह अब तक जैसा होता आया है वैसा ही होनेवाला है कि सत्संगके अपूर्वयोगमें, (अर्थात्) यहाँ पर सत्संगके योगको भी `**अपूर्व**' योग बताया है, क्योंकि अनन्तकालमें कोई अलौकिक सौभाग्य होनेपर ही यथार्थ सत्संग प्राप्त हो - ऐसा योग मिलता है। `**अलभ्य**' और `**अत्यंत दुर्लभ**', जल्दी प्राप्त नहीं होता है, इसलिए अलभ्य कहा और उसकी सुलभता नहीं होनेसे, इस विषयमें अनेक प्रकारके अंतराय (बाधाएं) होनेसे - अत्यंत दुर्लभ है। ऐसा दुर्लभ योग है वैसा जानकर उसकी जितनी दुर्लभता व अपूर्वता है इस क़दर उसका मूल्यांकन नहीं हो ऐसी परिस्थितिमें, ``**सत्संगके योगके बाधक अनिष्ट कारणोंका त्याग नहीं किया।**'' अनिष्ट कारण तो खुदके ही परिणाम हैं। जो कि आगे के पैराग्राफमें स्पष्ट करेंगे। ऐसे अनिष्ट कारणोंका त्याग नहीं किया।

कौनसे ऐसे अनिष्ट कारण हैं ? कौनसे ऐसे विपरीत परिणाम हैं ? जो कि सत्संगके योगको सफल होने नहीं देते ? इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए यहाँ पर नीचे बातका प्रतिपादन किया है। ये

कारण हैं - ``**मिथ्याग्रह, स्वच्छन्दता, प्रमाद और इन्द्रियविषयकी उपेक्षा न की हो तभी सत्संग फलवान नहीं होता,..**'' चार कारण - चार प्रकारके परिणाम लिये हैं। इस (सत्संगको) सफल होनेमें बाधक ऐसे कारणोंमें पहले किया हुआ जो निश्चय, उस निश्चयका नहीं हटना, उस निश्चयका वैसा का वैसा रहना जिसे मिथ्याग्रह कहते हैं। झूठा (गलत) आग्रह (भी) कहते हैं। यह जो आग्रह है वह खुदका Misconcept है। ये अनेक जीवोंको अनेक प्रकारसे होता है। ज़्यादातर मुमुक्षु इस प्रकारसे सत्संग करते हैं। कुछ एक बातको मान्य करते हैं और कुछ एकको अमान्य करते हैं। जैसे ये बात तो बराबर है, लेकिन ये बात बराबर नहीं है। इस तरह खुदका जो आग्रह है, खुदके जो विचार हैं, उसे छोड़ता नहीं, ऐसी एक प्रकृतिगत् असरलता होती है जो मिथ्याग्रहमें परिणमित होती है। इसलिए जो बात मान्य की है उसका भी जो लाभ होना चाहिए वह नहीं होता है। जब कि सत्पुरुषकी सभी बातें समझकर वे मान्य करने योग्य हैं। वह भी समझे बग़ैर, ओघे-ओघे मान्य करेंगे तो भी उतना लाभ नहीं होगा, जितना लाभ समझकर मान्य करनेमें हैं। उसमें एक भी बातमें शंका करना यह जीवका मिथ्याग्रह है। अथवा यह जीवका स्वच्छन्द है।

एक सामान्य प्रसंग ले लें कि जैसे हमारे यहाँ किसी भी आदमीको रोग हुआ और उसमें भी हृदयरोग जैसा गंभीर रोग हुआ, तब (वह) आदमी Heart Specialist के पास जाता है। क्यों ? क्योंकि उस विषयमें वे Expert (तजज्ञ) हैं। हृदयरोगके सम्बन्धमें जो निष्णात है उसकी राय और उसके कहनेके मुताबिक़ दवाई इत्यादि उपचार करनेके लिये वह तैयार होता है। और वहाँ जीव अपनी अक्कलका इस्तेमाल नहीं करता, और अगर इस्तेमाल करने

जायेगा तो भी वह नहीं चलेगा। पैसे लेकर राय देनेवाले या उपचार करनेवाले डॉक्टर भी अगर उनकी सूचनाके मुताबिक़ मरीज़ न चले (रहे) तो वैसा चलने नहीं देते। ऐसा कहेंगे कि Strictly मैं कहूँ वैसी ही आपको रहना होगा। उसमें किसी दूसरेका अभिप्राय काम नहीं आता, वहाँ समाजका अभिप्राय काम नहीं आता, वहाँ कुटुम्बका अभिप्राय भी काममें नहीं आता, (और) वहाँ खुदका अभिप्राय भी काममें नहीं आता। उस विषयके जो निष्णात होते हैं उनका ही अभिप्राय वहाँ काममें आता है। ये तो बात हुई शरीररोगकी मर्यादाकी।

अब, इस जीवको अनादिसे भवरोग लागू हुआ है। कौन सा रोग है ? अनेक प्रकारके भवोंमें परिभ्रमण करना पड़े और अत्यंत - अनेक प्रकारके अनन्त दुःखोंको भोगना पड़े ऐसा जो भवरोग है वह। उस भवरोगको मिटानेके लिए इसके तजज्ञ (निष्णात), ऐसे जो आत्मज्ञानी सत्पुरुष व ज्ञानीपुरुष हैं उनके अभिप्रायका अनुसरण करनेमें जीवको पहली - पहली लोकसंज्ञा आड़े आती है, कि लोग क्या कहेंगे ? अरे ! आप फलानेमें मिल गये ? अपना संप्रदाय छोड़कर वहाँ जाने लगे ? यहाँसे (इस तरह) शुरू हो जायेगा। अभी तो बहुत मुश्किलसे हिम्मत करके उसकी अवगणना करे-करे कि कुटुम्बका अभिप्राय, कुटुम्बियोंका अभिप्राय आड़े आयेगा, कि इस तरह आप सत्संग करोगे और संसारमें उदासीन हो जाओगे तो ऐसा नहीं चलेगा। संसारमें भी कुटुम्बका जो फ़र्ज़ है वह फ़र्ज़ निभाना ये भी आपका धर्म है और ये पहला धर्म है। क्या कहेंगे ? (कहेंगे कि) कुटुम्बका कार्य करना ये तो पहला धर्म है। यह करते-करते आपको जो भी सत्संग आदि करना हो करो, लेकिन ये तो आपको करना ही होगा। उसमें उदासीनता आये वह कुटुम्बियोंको नहीं पोसाता है। इस प्रकार कुटुम्बका अभिप्राय बाधा करेगा। उनके

अभिप्राय अनुसार चलने पर भवरोग कैसे मिटेगा ? या तो लोकसंज्ञासे लोगोंका अभिप्राय, लोगोंकी शरम आड़े आती है या फिर कुटुम्ब-परिवारके सदस्य नाखुश हो, खुश नहीं रहेंगे इसलिये सत्संगकी उपासना करनेमें गौणता हो जायेगी, तो फिर सत्संग फलवान नहीं होगा। कुटुम्बको खुश रखते हुए सत्संग करें, ऐसी अपेक्षासे, ऐसी वृत्तिसे अगर सत्संग करनेमें आये, तो उसका सत्संग कभी फलवान नहीं होता। इस मिथ्याग्रहमें बहुत बातें हैं। विस्तार करने जाये तो बहुत समय लग जाये ऐसा विषय है। लेकिन मुख्य-मुख्य जो प्रतिबंध हैं वे इस समाज सम्बन्धित प्रतिबंध हैं और कुटुम्ब सम्बन्धित प्रतिबंध हैं और इससे आगे चलें तो शरीरकी अनुकूलता - देह प्रतिबंध, शरीर प्रतिबंध हैं। हमें ये टाइम अनुकूल नहीं है। हमको ये समय अनुकूल नहीं है। हमें अगर सत्संगका समय अनुकूल होगा तो ही हम सत्संगमें पहुँच सकते हैं। हमारे नज़दीकी क्षेत्रमें हो, अनुकूल क्षेत्रमें हो, अनुकूल समय हो तो सत्संग हो सकता है वरना जमता नहीं है। यह सब जो अपनी अनुकूलता देखने के अनेक प्रकार जिसे होते हैं वैसे जीव भी, वैसे मुमुक्षु भी सत्संगके योग्य नहीं हैं। किसी भी समय पर या कोई भी क्षेत्रमें अगर यथार्थ सत्संग मिलता हो तो उसकी किसी भी कीमत पर उपासना करनी चाहिए। उसकी सर्वार्पणतासे उपासना करनेकी बात है।

पैसा कमानेके लिए हमलोग अमरीका जाने के लिए तैयार हैं और अफ्रीका जाने के लिए भी तैयार हैं और हमारे गुजरातीलोग (दुनियाके) किसी भी देशमें न पहुँचे हों ऐसा नहीं है। दुनियाके सभी के सभी ढाईसो देशोंमें गुजरातीलोग पहुँचे हैं। वहाँ सब (लोग) इतनी बुद्धि लगाते हैं। देहार्थ को लेकर कहीं पर भी कुछ भी प्रवृत्ति करने के लिए हम तैयार हैं। आत्मार्थ के लिए हमारी इतनी

तैयारी नहीं है, तो हमारा `अर्थ' माने हितरूप जो प्रयोजन वह कैसे सिद्ध होगा ? अभी तक देहकी जितनी चिंता की है उससे अनंतगुनी चिंता (आत्माके लिए) करनेकी ज़रूरत है। इसके बजाय देहकी चिंता जितनी भी (आत्माकी) चिंता करनेमें न आये तो उसका फायदा कहाँसे होनेवाला है ? यह सहज ही समझमें आये ऐसी बात है।

अत: किसी भी प्रकारके आग्रहको गौण करके, स्वच्छन्दसे अर्थात् हमारे मनमाने तरीकेसे आत्मकल्याण करनेकी जो आदत बन गई है, उसे गौण करके, और सत्संगकी उपासनामें जो शिथिलता रहती हो, उस शिथिलताको दूर करके सत्संगकी उपासना करनी चाहिए।

प्रमादका अर्थ ऐसा है, कि एक तो समझ होनेके बावजूद भी समझका बल उत्पन्न न हो, तब जीव सत्संगमें प्राप्त आज्ञाकी उपासना नहीं करता हैं, अमलीकरण नहीं करता है वैसी शिथिलताको भी प्रमाद कहते हैं और (दूसरा) सत्संगको गौण करके, दूसरे-दूसरे कार्योंको मुख्यता देना, दूसरे कार्योंमें जुड़े रहना उसे भी प्रमाद कहते हैं।

जिसको सत्संगकी उपासना करनी हो उसे पाँचो इन्द्रियोंके विषयकी जो अपेक्षा है उसे छोड़कर उपेक्षा आनी चाहिए। तीव्र रससे किसी भी इन्द्रियके विषयमें अगर जीव प्रवेश करता है या परिणमन करता है तो सत्संगमें उसको जो निर्विकारी होने का उपदेश मिलता है उस उपदेशका असर नहीं आयेगा। जीवके खुदके परिणाममें किसका, कब और कितना असर पहुँचता है ? इसका विज्ञान समझना ज़रूरी है। जीवके परिणामकी यह एक बहुत ही वैज्ञानिक परिस्थिति है।

बहुभाग मुमुक्षुओंकी शिकायत रहती है कि बात तो बराबर है लेकिन हमको जो बल आना चाहिए और जो असर होना चाहिए

वह क्यों नहीं होता है ? इस वजहसे नहीं होता है कि, इससे विपरीत परिणामोंमें रस है और इस रसका जो असर परिणामोंमें चालू है इसके कारण सत्संगसे प्राप्त उपदेशका असर उत्पन्न नहीं होता है, या तो फिर वह समझ बलवान नहीं होती। समझ होना उतना कठिन नहीं है, हाँ ! कठिन तो उसको है जिसने विपरीत समझवाले उलटे अभिप्राय बहुत ग्रहण किये हों, तब उसे थोड़ी तकलीफ़ ज़रूर होगी, वरना समझनेके अभिप्रायसे बैठे तो वैसे तो खुद बुद्धिमान है - बुद्धिशाली आदमी है (अत:) ये समझनेमें सुगम पड़े ऐसा है। सत्संगकी बातें समझनेमें इतनी कठिन नहीं हैं लेकिन समझनेके बावजूद भी इस समझका बल नहीं आता है। बहुभाग-प्राय: ऐसी परिस्थिति देखनेमें आती है; कि समझमें तो आता है लेकिन समझका बल नहीं है।

इस विषयमें कृपालुदेवके ५६९ नंबरके पत्रमें बहुत अच्छा मार्गदर्शन दिया गया है, कि आत्मकल्याणका जो विचार है वह एक बात है और उस विचारका विचारबल होना वह एक दूसरी बात है। विचार तो कई जीवोंको आते हैं, अनेक जीवोंको आते हैं और इसलिए वे सत्संगमें उपस्थित भी होते हैं। सत्संगमें उपस्थित होनेका कारण खुदके आत्मकल्याणका विचार है। उसके बावजूद भी यह विचार बलवान नहीं होनेसे उस दिशामें कोई कार्य सफल होता नहीं है। थोड़े अंशमें भी सफल नहीं होता। अब यह विचारबल कैसे बढ़े ? इसके लिए बहुत अच्छा मार्गदर्शन ५६९ पत्रमें आता है, कि जीवका जो विचारबल प्रवर्तता नहीं है उसका कारण असत्संग और असत्प्रसंग है। जब तक जीव असत्संग और असत्प्रसंगोंमें रस लेता है (तब तक विचारबल उत्पन्न नहीं होता)। यहाँ चलते हुए विषयमें इन्द्रियविषयकी उपेक्षा न की हो यानी कि अपेक्षा की हो

ऐसे प्रसंग, असत्प्रसंग हैं और जिस मनुष्यका संग नहीं करना चाहिए उसके संगमें रहना वह असत्संग है। या फिर सत्संगको छोड़कर दूसरे कोई भी संगका होना वह असत्संग है। इन दो कारणोंकी वजहसे जीवका आत्मकल्याणके विचारका बल प्रवर्तता नहीं है और परिणामोंके अन्दर विरुद्ध (ऐसा) जो संसारबल है उसका प्रवर्तन होनेके कारण सत्संगसे प्राप्त उपदेश अभी तक निष्फल ही गया है। सत्संग मिला है, उपदेश भी मिला है लेकिन वह सफल नहीं हो, ऐसे कारण भी साथ-साथ मौजूद रहे हैं।

ये चार प्रकारके परिणामोंकी हमारे चलते परिणमनमें जाँच करनी चाहिए और जाँच करके इन्हें दूर करना चाहिए। अगर ऐसी जाँच न की जाये तो इसके सम्बन्धित जो स्वाध्याय किया है उसका सफल होनेका कोई कारण नहीं रहता। अर्थात् सफल नहीं होगा, ये समझ सके ऐसी बात है। अगर हम स्वलक्ष्यसे स्वाध्याय करते हैं तो फिर हमें (हमारे) चलते हुए परिणामोंकी अपक्षपातरूपसे जाँच करनी चाहिए। अपक्षपाततासे इन चारों प्रकारके दोषकी जाँच ज़रूरी है, और तब ही सत्संग फलवान होगा। यदि इस प्रकारके परिणाम चालू के चालू रहें तो सत्संग फलवान नहीं होगा। अर्थात् नियमसे सत्संग निष्फल जायेगा। ये चार प्रकारके परिणामोंमें अनेकविधता है, अत: किसीको ये समझमें आते हैं और किसीको ये समझमें नहीं भी आते। ऐसी एक परिस्थिति होनेसे ऐसे परिणामोंका नाश करनेमें कुछ विडंबनाएँ भी अनुभवमें आयेगी तब जीवको क्या करना (चाहिए) ? इस सम्बन्धित एक सुंदर मार्गदर्शन आगेके वचनामृतमें स्वयंने दिया है।

``**अथवा**'' करके लिखते हैं कि, ``**अथवा सत्संगमें एकनिष्ठा, अपूर्वभक्ति न की हो तो फलवान नहीं होता।**'' `**एकनिष्ठा**' माने

क्या ? कि एकमात्र आत्मकल्याणके लक्ष्यसे सत्संगमें प्रवर्तन होना चाहिए। एक ही निष्ठा। इसके अलावा दूसरे किसी भी प्रकारके परिणाम सत्संगके दौरान नहीं चलने चाहिए। सत्संग यह एक ऐसा प्रसंग है कि जिसकी सर्वार्पणतासे उपासना कर्त्तव्य है और उसमें पूरापूरा ध्यान देने योग्य है। एकनिष्ठासे - एकलक्ष्यसे उसमें प्रवर्तन करने योग्य है और `**अपूर्वभक्ति**' (अर्थात्) उसका अपूर्व बहुमान आना चाहिए। उपदेश तभी परिणमता है जब उपदेश के प्रति, उपदेशदाताके प्रति अपूर्व बहुमान उत्पन्न होवे तब (उपदेश परिणमता है) अन्यथा किसी भी प्रकारसे उपदेशका परिणमन नहीं होता।

२०० नंबरके आंकमें यानी २०० नंबरके पत्रमें - वचनावलीका जो पत्र है, उसमें छट्ठा वचनामृत है कि, सत्संगमें ``**ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन वह कर सकता है कि जो एकनिष्ठासे,...**'' वहाँ पर भी इस शब्दका उपयोग किया है, `**एकनिष्ठा**'। ``**एकनिष्ठासे, तन, मन, और धनकी आसक्तिका...**'' इसमें पाँचों इन्द्रियोंके विषय आ जाते हैं। ``**त्याग करके उसकी भक्तिमें जुट जाये।**'' तो ही आज्ञाका आराधन कहो या सत्संगकी सफलता कहो; तभी हो सकती है। जब भक्ति की बात आयी है तो स्पष्टीकरण देना आवश्यक समझकर सातवें वचनामृतमें इस बातको स्पष्ट किया है कि, ``**यद्यपि ज्ञानी भक्तिकी इच्छा नहीं करते,...**'' ज्ञानीको इसकी जरूरत नहीं है, आवश्यकता नहीं है, अपेक्षा नहीं है। ज्ञानी तो हमेशा निस्पृह होते हैं। और दूसरेकी प्रवृत्तिकी अपेक्षा नहीं रखते - ऐसे निर्लेप होते हैं। क्योंकि इससे उन्हें खुदको कुछ फायदा नहीं है। कोई जीव उनकी भक्ति करे इससे ज्ञानीको क्या फायदा हो जायेगा ? उनके आत्मामें कोई लाभ होनेका प्रश्न ही नहीं है। इससे (उनको) कुछ फ़र्क़ नहीं पड़ता। इसलिए ``**यद्यपि ज्ञानी भक्तिकी इच्छा नहीं करते,**

परन्तु मोक्षाभिलाषीको वह किये बिना उपदेश परिणमित नहीं होता,...'' उपदेशको परिणमित होनेके लिए यह एक सुगमसे सुगम, और उत्तमसे उत्तम उपाय है। उपदेश सुनना यह एक बात है और उपदेश परिणमित होना वह बिलकुल दूसरी बात है। दरअसल सुना इसलिए ज्ञान हो गया ऐसा नहीं है (लेकिन) वास्तवमें तो परिणमन हुआ तब ही ज्ञान हुआ-ऐसा है। और यह उपदेश तभी परिणमित होगा कि जब वह मोक्षाभिलाषी होकर अर्थात् पूर्णपदका अभिलाषी होकर - कि जो इस (पत्रमें) सर्व प्रथम ही मोक्षकी बात की है - इस मोक्षके अभिलाषी होकर भक्तिसे सत्संगकी उपासना करेगा, बहुमानसे सत्संग की उपासना करेगा, ``**और मनन तथा निदिध्यासन आदिका हेतु नहीं होता; इसलिये मुमुक्षुको ज्ञानीकी भक्ति अवश्य करनी चाहिये ऐसा सत्पुरुषोंने कहा है।**'' यह आज्ञा है। बहुमानके बग़ैर उपदेश परिणमित नहीं होगा। जीवको अत्यंत-अत्यंत एकनिष्ठासे, अपूर्वभक्ति न आये तब तक सत्संग फलवान नहीं होगा या सत्संगसे प्राप्त उपदेशका परिणमन नहीं होगा।

वास्तवमें यह Master - Key (चाबी) है। मुमुक्षुकी भूमिकाके सभी प्रकारके बाधक कारणों, बाधक दोषोंका अभाव करनेका यह एक (श्रेष्ठ उपाय है), एक ही चाबी है कि जिसे लेकर सभी दोषोंकी निवृत्ति होना संभवित है। इसलिए ऐसा कहा कि, ``**यदि एक ऐसी अपूर्वभक्तिसे सत्संगकी उपासना की हो तो...**'' बस ! यह एक ही साधन अगर हाथमें आया, अपूर्वभक्ति - अपूर्व बहुमान तो...! यद्यपि आगे इस विषयमें स्पष्टीकरण तो आयेगा, लेकिन इस प्रकारके परिणाम हुए बिना (सत्संग फलवान नहीं होता)। ``**यदि एक ऐसी अपूर्वभक्तिसे सत्संगकी उपासना की हो तो अल्पकालमें मिथ्याग्रहादिका नाश हो...**'' अर्थात् चारों प्रकारके दोष - मिथ्याग्रह, स्वच्छन्दता,

प्रमाद और इन्द्रियविषयोंमें रस लेकर अपेक्षाबुद्धि रखना - इनका नाश होना। ``...**और अनुक्रमसे...**'' भविष्यमें क्रमसे,``**...जीव सर्व दोषोंसे मुक्त हो जाये।**'' और निर्वाणपदको प्राप्त होगा। इस विषयको एक महत्त्वपूर्ण कारण बताया है, कि दोषके प्रकार अनंत हैं लेकिन अगर जीव ज्ञानीपुरुषकी अपूर्वभक्तिमें परिणमन करने लगे तो यह एक बड़ा साधन है और वह जीवके आत्मकल्याणमें बहुत अल्प प्रयाससे कारणभूत हो सकता है।

इसके पीछे इसका विज्ञान है - इसका Logic (लोजिक) है। क्यों ऐसा होता है ? (क्योंकि) भक्ति (अर्थात्) ज्ञानीपुरुषकी भक्ति वास्तवमें कोई राग नहीं है; बल्कि वह तो स्वयंके आत्माकी भक्ति है। किसकी भक्ति है ? कि आत्माकी भक्ति है। जिसको ज्ञानीपुरुषके प्रति भक्ति नहीं है उसे खुदके आत्माके प्रति भक्ति नहीं है, ऐसा समझने योग्य है। उसे सिर्फ़ निमित्त है ऐसा करके छोड़ देने जैसा विषय नहीं है। निमित्त जानकर उसकी अवहेलना / अवमानना करना योग्य नहीं है। क्यों ? (क्योंकि) जिन्होंने दर्शनमोहका नाश किया है ऐसे जो ज्ञानीपुरुष हैं उनके प्रति जो बहुमान है वह ज्ञानीपुरुषका पहचानरूप ज्ञान है और वह ज्ञान स्वयं ही भक्ति-बहुमान (रूप है)। ज्ञानसे जो बहुमान आया उस ज्ञानकी अवस्था - ज्ञानकी पर्याय वह खुद ही भक्तिकी पर्याय है, बहुमानकी पर्याय है और ऐसे परिणामोंसे जीवके-खुदके दर्शनमोहका अनुभाग तूटता है अर्थात् जिसका दर्शनमोह कम हुआ है उसकी मति निर्मल होती है और उसका मतिज्ञान निर्मल होनेसे उसको आत्मकल्याणकी दिशामें अधिक-अधिक सूझ आती है, कि मुझे मेरी वर्तमान योग्यतामें क्या कर्त्तव्य है ? और क्या अकर्त्तव्य है ?

इस तरह ज्ञानीपुरुषकी भक्ति जीवके दर्शनमोहके परिणामों पर

सीधा असर करती है। और इसके कारण जीव मिथ्याग्रह आदि सर्व दोषोंसे मुक्त होकर अनुक्रमसे निर्वाणपदको प्राप्त होता है। निष्कर्मदशाको प्राप्त होता है।

ऐसी दशा उत्पन्न होनेमें ये `**अपूर्वभक्ति**' एक महत्त्वका कारण है। इसीलिए कृपालुदेवने अपने पत्रोंमें इस विषय पर असाधारण रुपसे कलम चलायी है। विशिष्ट प्रकारसे कुछ एक लेख तो आये हैं। जैसे कि भगवान जो है, हरि जो है, वे मुक्ति देनेमें तो कृपण नहीं हैं लेकिन भक्ति देनेमें क्यों कृपण हो जाते हैं ? क्यों कृपण रहते हैं ? कृपण माने लोभी। क्योंकि जिसको भक्ति आयी उसे तो सहजमात्रमें मुक्ति दे देते हैं, लेकिन पहले भक्ति ही नहीं देते, इसका क्या करें ? इसका अर्थ क्या होता है ? (यह होता है) कि जीवको ज्ञानीपुरुषकी पहचान होकर यथार्थ प्रकारसे उनका बहुमान व अपूर्वभक्तिका आना यह इतनी आसान बात नहीं है। बहुभाग ऐसा बनता नहीं है। ज़्यादातर ऐसा बनता नहीं। ज्ञानीपुरुषका योग तो मिला है लेकिन ऐसा अभी तक हुआ नहीं। और ऐसा क्वचित् ही कोई भाग्यशाली जीवको बनता है। इसलिए ऐसा कहते हैं कि भगवान इस मामलेमें कृपण है। क्यों किसी को ही (भक्ति) देते हैं ? क्यों ज़्यादा को भक्ति नहीं देते ? मुक्ति तो बहुतोंको देते हैं। अथवा जितनेको भक्ति देते हैं उतनेको मुक्ति दे देते हैं। लेकिन भक्ति ही नहीं देते इसका क्या कारण ? ऐसी एक विशिष्ट शैलीसे इस विषयका अद्‌भुत प्रकाशन किया है और जगह-जगह पर उन्होंने ये बात की है। इस विषयमें थोड़ी महत्त्वपूर्ण बातें आगेके वचनामृतमें आयेगी। अभी समय समाप्त हुआ। यहाँ तक रखते हैं।

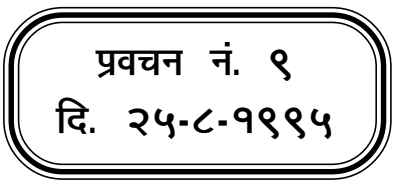

यह पत्र सत्संगका महत्त्व दर्शाता है और सत्संगके सफल होनेके एवं निष्फल होनेके कारण पर प्रकाश डालता है। ग्यारहवें पैराग्राफसे स्वाध्याय करेंगे। ``**सत्संगकी पहचान होना जीवको दुर्लभ है।**'' क्या कहा ? कि यथार्थ सत्संग कैसा होता है ? इससे सम्बन्धित पहचान होना ये जीवको दुर्लभ है। सामान्यरूपसे जहाँ भी शास्त्रचर्चा चलती हो, धर्मचर्चा चलती हो, तत्त्वचर्चा चलती हो, तब जीव वहाँ सत्संग चलता है ऐसा समझकर उस सत्संग का अनुसरण करने लगता है। लेकिन सत्संगमें जानेवाला मनुष्य अगर खुदकी जाँच नहीं करता है कि इतने समय तक सत्संगमें रहकर भी मेरे आत्माको क्या फायदा हुआ ? वरना फिर ऐसे ही वह प्रवृत्ति चालू रहती है और वह सत्संग यथार्थ है कि अयथार्थ है इसका विचार मात्र भी नहीं होता। यद्यपि (विचार) नहीं होनेका एक कारण यह है कि सत्संगमें सत्शास्त्र व सत्पुरुषके वचनामृतके आधार पर स्वाध्याय,

पठन, श्रवण, चर्चा, चिंतन इत्यादि चल रहा होता है फिर भी इसमें थोड़ी विशेष दरकार लेने योग्य है और यह दरकार इस प्रकारकी है कि सत्संगमें रहकर मेरे आत्माने कितने गुण प्रगट किये ? या मेरे कितने अवगुण मिटे ? यदि इस विषयकी दरकार (संभाल) न की जाये अर्थात् खुदकी ही संभाल लेनेमें नहीं आये तो सत्संग करनेका एक संतोष लेनेमें आयेगा। और इस संतोषसे फायदाका तो सवाल ही नहीं है लेकिन उलटा नुकसान अवश्य होगा। सत्संगमें जाकर मनुष्यको लाभ होनेके बजाय नुकसान हो तो यह कितने अफसोसकी बात है ! यह विचार करने योग्य है।

``**सत्संगकी पहचान होना जीवको दुर्लभ है।**'' इधर यह प्रश्न भी होना संभवित है, हो सकता है कि पहचान होवे ऐसी हमारी योग्यता ही न हो तो फिर हमको कैसे मालूम हो कि यहाँ पर यथार्थ सत्संग चलता है या अयथार्थ सत्संग चलता है ? ऐसा प्रश्न हो सकता है। लेकिन खुदको आत्मकल्याणकी भावना एवं आत्मा सम्बन्धित रुचि (हो और) उस भावना व रुचिको कितना पोषण मिलता है या पोषण नहीं मिलता है इसकी दरकार तो अवश्य होनी ही चाहिए। अर्थात् खुदको क्या लगता है ? इस विषयमें खुदको जैसे कुछ तो लगना चाहिए, या होना चाहिए कि मेरी आत्मरुचि व आत्मभावनाको पुष्टि मिले ऐसा कुछ हुआ कि नहीं ? मेरे परिणमनमें इसका परिणमन कितना हुआ ? कैसा हुआ ? इतना तो अवश्य सोचना चाहिए या विचारमें आना चाहिए। यदि इस प्रकारका विचार करनेमें नहीं आता है तो जीव कोई विशेष विचार किये बिना ही कोई न कोई, अन्य हेतुसे, अन्य हेतुसे माने आत्मभावना - आत्मकल्याणके विचार बिना ही सत्संगमें उपस्थित रहता है या फिर किसी न किसी संप्रदायको, किसी न किसी मंडलको, किसी न

किसी समूहको अनुसरण करता है। तो वह किस कारणसे करता है ? क्योंकि अगर खुदके आत्मकल्याणकी भावनाकी पुष्टि नहीं होती है और तद्नुसार मुमुक्षुतामें आगे नहीं बढ़ा जा सकता हो, तो फिर सत्संगमें क्या किया ? या क्या काम हुआ ? (यह तो) व्यापार किया और कमाई नहीं हुई, ऐसी बात हुई अथवा कोई व्यापारी ऐसा नहीं हो सकता है कि व्यापार तो करे लेकिन खुदके मुनाफ़ेकी दरकार नहीं करता हो ऐसा कोई व्यापारी हो सकता है क्या ? अगर मुनाफ़ेकी संभाल नहीं रखेगा तो नुकसानका (घाटेका) पता भी नहीं चलेगा और मुनाफ़ेकी जगह घाटा होगा तो भी ऐसे ही चलता रहेगा। उसको तो दरअसलमें व्यापारी बोल ही नहीं सकते या तो वह व्यापार करनेके लिए लायक नहीं है ऐसा कह सकते हैं।

इसी तरह सत्संग हो या कोई भी धर्मसाधन हो, खुदको उससे क्या फायदा हुआ ? यदि इतनी जाँच रखी न जाये तो फिर एक अंधा (लक्षहीन) अनुकरण चल रहा है, ऐसा ही कह सकते हैं। उसमें कौनसी विशेष बात हुई ? मगर ज़्यादातर ऐसा ही चलता है, इस कारणसे ऐसा कहा है कि, ``**सत्संगकी पहचान होना जीवको दुर्लभ है।**'' यहाँ सत्संग शब्दसे सत्पुरुषकी पहचान होना जीवको बहुत दुर्लभ है, ऐसा कृपालुदेवका कहनेका अभिप्राय है ऐसा आगेके वचनोंसे लगता है। क्योंकि बारहवें पैराग्राफमें सत्संगकी अर्थात् सत्पुरुषकी पहचान - इस तरह वाक्यकी शुरूआत की है। बारहवें पैराग्राफमें क्या वाक्य है ? कि, ``**सत्संगकी अर्थात् सत्पुरुषकी पहचान होनेपर भी यदि वह योग निरंतर न रहता हो...**'' ऐसे करके बात लिखी है। अर्थात् (जैसे) सत्संगकी पहचान होना जीवको दुर्लभ है, वैसे ही यह सत्पुरुषकी पहचान होना (भी) दुर्लभ है, अगर कोई

सत्पुरुष विद्यमान न हो तो मुमुक्षु-मुमुक्षुके बीचमें जो सत्संगकी प्रवृत्ति चलती हो, उसमें भी वह प्रवृत्ति यथार्थ चलती है कि यथार्थ नहीं चलती इसकी पहचान शायद ही कोई जीव करता है। ज़्यादातर लोगोंका तो (जीवोंका) ऐसे ही अनुसरण होता है - एक Routine बन जाता है। ``**किसी महान पुण्ययोगसे उसकी पहचान होनेपर निश्चयसे यही सत्संग, सत्पुरुष है,...**'' सत्संग लिखने के बाद कोमा (,) करके सत्पुरुष शब्द लिखा है। ``**यही सत्संग, सत्पुरुष है, ऐसा साक्षीभाव उत्पन्न हुआ हो, वह जीव तो अवश्य ही प्रवृत्तिका संकोच करे; अपने दोषोंको क्षण क्षणमें, कार्य कार्यमें और प्रसंग प्रसंगमें तीक्ष्ण उपयोगसे देखे; देखकर उन्हें परिक्षीण करे;...**'' फिर आगे दूसरी बात कहना चाहते हैं। लेकिन हम पहले इन वचनों पर विचार करेंगे। ``**किसी महान पुण्ययोगसे उसकी पहचान होनेपर...**'' पहचान होना उसे महान पुण्यका योग कहा है। क्यों ? (क्यों) कि इस जीवको सत्पुरुषका योग तो भूतकालमें - अनंतकालमें अनेकबार हो चुका है। किन्तु, एकबार भी पहचान नहीं हुई। सत्संग व सत्पुरुषका योग दुर्लभ है, ये बात जरूर है फिर भी यह (योग) अनेकबार, अनंतबार हो चुका है। लेकिन, एकबार भी पहचान नहीं हुई। अत: पहचान होना यह एक बहुत (ही) बड़ी बात है और कदाचित् किसीको पहचान होती है तो वह बहुत, बहुत बड़ा पुण्ययोग है ऐसा समझने योग्य है। अर्थात् वह जीव बहुत ही बड़ा भाग्यशाली है ऐसा समझने योग्य है।

सामान्यरूपसे जगतमें पुण्यशाली व भाग्यशालीकी परिभाषा दूसरे तरीकेसे है। लौकिक जगतमें संयोगोंके आधारसे उसका नाप लिया जाता है, कि मानो किसीको ज्यादा अनुकूल संयोग हो, श्रीमंत हो, राजा हो या कोई सत्ताधारी राष्ट्रपति हो, राष्ट्रप्रमुख हो, या

प्राईम मिनिस्टर हो, तो उसके लिये ऐसा कहा जाता है कि ये तो पुण्यशाली है। किन्तु, वास्तवमें तो वह पापानुबंधी पुण्य होनेसे उसे पुण्यशाली भी कैसे कहें ? इस प्रकरणमें तो यह शंकास्पद विषय है। क्योंकि जीव अनेक प्रकारके पापोंका बंधन करते-करते इस पुण्यके फलको प्राप्त होता है और बहुत आकुलता और अशांतिको भोगता है। अत: उसे पुण्य कैसे कहें ? इधर तो सत्पुण्यकी बात है कि जिस पुण्ययोगसे जीवको निर्वाणपदका अधिकार प्राप्त होता है और अनुक्रमसे सर्वदोषोंसे मुक्त होकर वह निर्वाणपदको प्राप्त होता है। यदि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होती है तो उसको अवश्य ही अवश्य भाग्यशाली कह सकते हैं।

अनंतकालमें अनंतबार ऐसा योग (प्राप्त) होनेपर भी ऐसी परिस्थिति नहीं बनी है कि उनकी पहचान हुई हो; इसलिए उसको भाग्यशाली नहीं कहा। उसे तो दुर्भागी कहना चाहिए कि ऐसा योग (प्राप्त) होनेपर भी कैसा दुर्भाग्य है कि पहचान नहीं हुई ! यद्यपि, पहचान नहीं होनेमें तो खुदकी ही ज़िम्मेवारी है। खुद ही ऐसी योग्यतामें नहीं आया, योग्यतामें ऐसी तैयारी नहीं हुई कि जिसके कारण खुदको पहचान नहीं आयी। यदि कोई महान पुण्यके योगसे ऐसी पहचान होनेपर, निश्चयसे, चोक्कसपने यही सत्संग या सत्पुरुष है, अन्दरमें ऐसा साक्षीभाव अर्थात् ऐसा विश्वास उत्पन्न हुआ हो तो उस जीवको क्या करना चाहिए ? या फिर उस जीवको सहज ही कैसे परिणाम होंगे ? जिसको उपदेशकी भाषामें `ऐसा करना चाहिए' इस तरह कहा जाता है कि बाह्यमें उसको प्रवृत्तिका संकोच करना चाहिए।

जीवनका गुज़ारा करनेके लिए जो भी प्रवृत्ति चलती हो, उस प्रवृत्तिका संक्षेप करना चाहिए। व्यवसाय हो, व्यापार हो या कुछ

भी हो उसका (संकोच करना) क्योंकि जीवका ज़्यादातर समय उसमें चला जाता है। बहुभाग रात और दिनमें जो सोचनेका समय मिलता है वह प्राय: इसके पीछे ही जाता है। भले ही Office Hours (दफ़्तरके घंटे) मर्यादित हों लेकिन उसके सम्बन्धित विचार तो Unofficially चलते ही रहते हैं। अथवा इन विचारोंमेंसे जीव मुक्त नहीं हो सकता है। यह परिस्थिति तो सबको अनुभवगोचर है। अब जिसको आत्मकल्याण करना है उसको तो अपनी वर्तमान प्रवृत्तिको गौण करना ही चाहिए और आत्मकल्याण व आत्मकल्याणकी प्रवृत्तिको मुख्य करना चाहिए। सत्संगमें जिसे हम Change Of Priority कहते हैं। (आत्मकल्याणको) मुख्यता देना। एक साथ अगर दो काम हो या अनेक काम हो तब मुख्यता किसको देना ? गणितकी दृष्टिसे, गिनतीकी दृष्टिसे अगर विचार किया जाये तो (यह) बहुत सीधी-सादी बात है - समझमें आये ऐसी बात है कि जिससे ज्यादा लाभ हो उसकी ही मुख्यता होनी चाहिये। यह सादा गणित है। जिसमें जीवको ज्यादा लाभ होगा उसी कामकी मुख्यता वह करेगा और सब ऐसा ही करते हैं - संसारमें भी लोग ऐसे ही करते हैं। यदि कोई ऐसा नहीं करता है तो मूर्ख गिना जाता है कि लाभकी बातको छोड़कर, ज़्यादा लाभ की बातको छोड़कर कम लाभकी बातको मुख्य करता है। यह कोई समझवाली बात नहीं है। यहाँ पर जो लाभ होनेवाला है उसमें तो एक भवमें अनंतभवकी कमाई होनेका है, इस लाभको गौण करके बाहरमें जो कि वास्तवमें लाभ नहीं है लेकिन सिर्फ़ लाभ मान रखा है, ऐसी प्रवृत्तिको मुख्य करना, यह सिर्फ़ जीवका अविचारीपना है इसके अलावा और कुछ नहीं है। अत: यदि (कोई) महानपुण्ययोगसे किसी जीवको यथार्थ सत्संग या सत्पुरुषकी पहचान हो और वह भी विश्वासपूर्वक पहचान हो,

सिर्फ़ पहचान हो इतना नहीं (कहा) लेकिन साक्षीभाव माने विश्वासपूर्वक पहचान होती है तो उस जीवको सबसे पहला विचार यही आता है कि अब मुझे (मेरा) ज़्यादा से ज़्यादा समय सत्संगमें व्यतीत करना है।

प्रश्न : विश्वासपूर्वक पहचान माने क्या ?

पू. भाईश्री : विश्वासपूर्वककी पहचान और पहचान दोनोंमें क्या फ़र्क़ है ? यदि इसका विचार करें तो, एक तो होता है विश्वास आना और एक होता है परिणमनसे पहचान होना, ऐसी दो बात हैं। अब, कृपालुदेवके पत्रका अनुसरण करते हुए आपके प्रश्नके उत्तरका थोड़ा विचार करें तो यह पत्र है ६७४। ६७४ में यह विषय चला है। इस क्षेत्रमें (बहुत सारे) जीवोंका प्रवेश होता है मगर उनमेंसे कुछएक को ही (पहचान होती है) क्योंकि सबको आत्महितकी उतनी दरकार नहीं होती है। ``**कोई जीव सत्समागमके योगसे, सहज शुभकर्मके उदयसे, तथारूप कुछ संस्कार प्राप्त कर ज्ञानी या वीतरागको यथाशक्ति पहचान सकता है।**'' पहचान सकता है-उसमें यथाशक्ति पहचान ली है वहाँ विश्वासपूर्वक नहीं लिया है। अब, इसमें क्या होता है कि कईबार सत्समागमका योग रहता है, जीवको थोड़ी-बहुत योग्यता भी आती है। थोड़ी-बहुत योग्यता प्राप्त होने के बाद वह यथाशक्ति पहचानता भी है, उसमें (दरअसल) क्या बनता है ? कि खुदको जो प्रश्न उत्पन्न होते हों उनका समाधान नहीं हो पाता इस वजहसे कुछ प्रश्न उत्पन्न होते हैं, उन प्रश्नोंका समाधान उसे ज्ञानीपुरुषसे मिलता है और जब यह समाधान उसको मिलता है तब जितनी मात्रामें समाधान मिलता है - उतनी मात्रामें उसको विश्वास आता है। इसीको यथाशक्ति पहचान कहा है, कि मेरे जो भी प्रश्न हैं, कि जिनका मुझे समाधान नहीं होता है उन

(प्रश्नोंका) समाधान प्राप्त होनेका यह ठिकाना है, ज़रूर (यही) ठिकाना है। (मुझे) तो ये ज्ञानी लगते हैं। दूसरे भी इन्हें ज्ञानी कहते हैं और मुझे भी ऐसा ही लगता है। इस तरह उसे अमुक मात्रामें विश्वास आता है।

``**तथापि सच्ची पहचान तो...**'' यह (पहचान) प्रतीति समेतकी है। अब ऐसा कहा कि यह विश्वासपूर्वक(की) बात है। ``**सच्ची**'' ऐसे, पहले सच्ची (पहचान) नहीं ली थी। क्यों सच्ची नहीं ली ? क्योंकि कहीं समाधान हुआ और कहीं समाधान नहीं हुआ या समाधान हुआ लेकिन उसको कुछ शंका भी हुई कि फिर वे ऐसा क्यों करते हैं ? अब, साधक अवस्था जो है वह एक ऐसी अवस्था है कि बुद्धिवालोंको भी भुलावेमें डाल दें। कौन (भुलावेमें पड़ता है) ? बुद्धिवाला भुलावेमें पड़ता है। (साधक अवस्था) एक ऐसी अवस्था है। क्यों ? क्योंकि साधक अवस्थामें साध्य है वह परिपूर्ण शुद्धिका है। साध्य क्या है ? निर्वाणपद है - मोक्षपद है, कि जहाँ परिपूर्ण शुद्धि होती है और साधक अवस्थामें तो शुद्धि अधूरी होती है अर्थात् साधकका आचरण अधूरी शुद्धिके अनुसार होता है जब कि साधककी बातें उसके ध्येयके अनुसार आती हैं। अत: बातमें और उनके आचरणमें फ़र्क़ पड़ता है तब बुद्धिवाले मनुष्य क्या सोचेंगे ? कि बात कुछ और करते हैं और आचरण कुछ और करते हैं। इनकी बातमें और आचरणमें मेल नहीं बैठता। इस वजहसे हमको अभी तक कुछ शंका रहती है कि ज्ञानी हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते। यदि उनका आचरण उनकी बातके अनुसार होता तब तो हमें शंका नहीं होती। मगर साधक अवस्थामें ऐसा कभी नहीं बनता। अगर बातके अनुसार आचरण हो तब तो वे सिद्धपदमें आ जाते, वीतराग पदमें आ जाते, पूर्ण वीतराग हो जाते, फिर साधक अवस्था नहीं

रहती। लेकिन साधक अवस्था ही उसका नाम है कि जिसमें साध्य परिपूर्ण शुद्धिका होता है लेकिन दशामें अधूरापन होता है। दशामें अधूरापन है, आचरणमें अधूरापन है, ऐसी परिस्थिति बुद्धिवाले को भुलावेमें डालती है, क्या ?

प्रश्न : उस वक्त बुद्धिका क्या करना ?

पू. भाईश्री : उस वक्त बुद्धिका क्या करना ? प्रश्न ऐसा है ठीक ! कि बुद्धिको एक ओर बिठा देना, ठीक ! ऐसी बुद्धिको एक ओर बिठा देना। इस प्रकारकी बुद्धिको एक ओर बिठा देना या इस बातको समझनेके लिए यथायोग्य बुद्धि कैसी होती है ? इसका विचार करना कि इस बातको अच्छी तरह कैसे सोचा जा सकता है ? कि बराबर है; जब साध्य पूर्णता का हो और अवस्था अधूरी हो, तो ऐसा ही होगा ना ! दूसरा किस तरह हो सकता है ? क्योंकि साधक अवस्थामें गुणोंका परिपूर्ण रूपसे विकास तो हुआ नहीं है तभी तो वह साधकपना है अर्थात् कि अमुक गुण हैं और अमुक अवगुण भी हैं। यदि जीवकी दृष्टि गुण पर होगी तो बुद्धि सुलटी चलेगी और यदि जीवकी दृष्टि अवगुण पर होगी तो बुद्धि उलटी चलेगी। ऐसा बनता है। अत: गुणग्राहीपना होगा तब तो कोई आपत्ति नहीं आयेगी, वरना दोषग्राहीपना तो अनादिसे है ही। तुरंत किसीके दोषको पकड़ना यह आदत तो जीवकी है ही। वह ऐसा तो करता ही आया है, उसमें कोई नयी बात नहीं है।

इसमें दूसरी भी कई बातें हैं। एकाद बातको खोलें कि जैसे मोक्षका जो मार्ग है वह अनुभवप्रधान है अर्थात् यदि मोक्षमार्गमें चढ़ना हो तो ज्ञानीपुरुषकी प्रत्येक बातको (खुदके) अनुभवसे मिलान करके, तुलना करके सम्मत करनी चाहिए। सिर्फ़ विचार करके सम्मत

नहीं करनी चाहिए। यदि इस प्रकारकी पद्धति होगी तो ज्ञानीपुरुषकी वाणीमें उनका जो अनुभव छिपा होता है वह अनुभव समझमें आयेगा और उस अनुभवको समझनेके लिए खुद भी अनुभव पद्धतिसे समझनेका प्रयत्न करेगा। यदि ऐसा ख़याल या ऐसी समझ नहीं होगी तो विचारपद्धतिसे ज्ञानीके वचनोंको समझने जायेगा, जब कि केवल विचारपद्धतिसे (समझने जायेगा) तो उसमें जो अनुभव है उस विषयसे अनजान रहेगा और इस वजहसे उनकी (सत्पुरुषकी) बातमें जो पारमार्थिक पहलू है या उस विषयका जो रहस्य है वह रहस्य जीवकी समझमें नहीं आएगा। इसलिए ऐसा कह सकते हैं कि कोई भी शास्त्रवचन हो, कोई भी ज्ञानीपुरुषका वचन हो, उसका शब्दार्थ, भावार्थ, नयार्थ या आगमार्थ- उस प्रकारसे उसका अर्थघटन बुद्धिके स्तर पर हो सकता है लेकिन उन वचनोंमें जो रहस्य पड़ा है उसका रहस्यार्थ या उससे (उन वचनोंसे) आत्मकल्याण कैसे हो सकता है ? ऐसा जो पारमार्थिक रहस्य है, उसे समझना जरूरी है और उसके लिए केवल बुद्धिका स्तर काममें नहीं आता है बल्कि उसके लिए जीवको अनुभवज्ञान लेना पड़ता है। Practical Knowledge में आना पड़ता है और तभी वह बात समझमें आती है। क्योंकि अनुभवकी बातको अनुभवपद्धतिसे समझने के अलावा दूसरा कोई उपाय नहीं है।

अत: सच्ची पहचान तो कब होती है ? ये कहना चाहते हैं कि, ``**सच्ची पहचान तो दृढ़ मुमुक्षुताके प्रगट होनेपर,...**'' दृढ़ मुमुक्षुता किसे कहें ? कि `**मोहासक्तिसे अकुलाकर**' सुबह हमारा जो स्वाध्याय चलता है - कि `**एक मोक्षके लिए ही यत्न करना**' ऐसा जो जीव मोक्षका ध्येय बाँधता है, उस जीवको दृढ़ मुमुक्षुता प्रगट होती है। ``**दृढ़ मुमुक्षुता प्रगट होनेपर, तथारूप सत्समागमसे प्राप्त हुए**

उपदेशका अवधारण करनेपर...'' और खुदके लिये योग्य ऐसा जो तथारूप उपदेश है - सत्समागममें खुदको लागू होता हो ऐसा, स्वयंकी भूमिकाका, खुदको जहाँ सुधार करना जरूरी हो ऐसा, जो तत्काल वर्तमान प्रयोजनभूत उपदेश हो उस उपदेशका अवधारण करनेकी अर्थात् अमलीकरण करनेकी, उसका अमल करनेकी खुदकी तैयारी, खुदकी पुरुषार्थ करनेकी तैयारी हो तथा जीवको ``**अन्तरात्मवृत्ति परिणमित होनेपर...**'' अर्थात् वृत्ति आत्माके अंतर स्वरूपमें जानेके लिए तत्पर हुई हो, तब। क्योंकि बहिरात्मवृत्तिसे, जो कुछ परिस्थिति है उसका मूल्यांकन नहीं आता है। वह किस तरह ? कि धर्मके क्षेत्रमें भी बहिरात्मवृत्तिसे शास्त्रज्ञानकी संभावना है, शास्त्रज्ञानकी विद्यमानता भी होती है और बाहरमें कुछ पदार्थोंके त्यागकी भी संभावना होती है। तब बाह्यवृत्तिवाले जीव, अंतरात्मवृत्ति नहीं होनेके कारण उसका मूल्यांकन करते हैं कि देखिये भाई ! कितना ज्ञान है और कितना त्याग है ! ज्ञान और त्याग दोनों हैं इसलिये जरूर ये कोई महापुरुष लगते हैं। इस तरह मूल्य करनेमें जीव भुलावेमें पड़ता है। वह बहिरात्मवृत्तिके कारण भुलावेमें पड़ता है।

जिसको अंतरात्मवृत्ति परिणमित हुई हो ऐसी वृत्तिवाले जीवकी दृष्टि, सामनेवाले जीवकी दृष्टि उसके (खुदके) आत्मा पर है कि नहीं ? ये देखी जाती है। इस पर संस्कृतमें एक कहावत है कि `बालानाम पश्यंति लिंगा:', जो बालजीव हैं वे बाह्य चिन्हको, लिंग माने बाह्य चिन्हको देखते हैं। जैसे देखो, उसने कितना त्याग किया है ! उसने कपड़े कैसे पहने हैं ! उसमें सादगी है कि नहीं ? उनके खान-पीनमें वैराग्य, सादगी है कि नहीं ? शास्त्रज्ञान विशाल है कि नहीं ? ये सब बाह्यचिन्ह हैं। तत्त्वदृष्टिवाले जीव तो अनंत

शांतिका पिंड ऐसा जो आत्मा, उसके पर दृष्टि है कि नहीं ? उस दृष्टिकोणसे खुद देखता है।

संक्षेपमें ऐसा कह सकते हैं कि जब ज्ञानीपुरुषके अंतरंग परिणमनको पहचाननेकी योग्यता आती है तब सच्ची पहचान होती है। वह पहचान परिणमन देखकर होती है, अंतरंग परिणमन देखकर पहचान होती है। बाह्य चिन्हसे वह पहचान नहीं होती।

प्रश्न : परिणमनको देखता है ?

पू. भाईश्री : हाँ ! परिणमन (देखनेसे) पहचान होती है। परिणमनमें उनका जो अंतरात्मवृत्तिरूप परिणमन होता है वह समझमें आता है - वह दिखता है। समझमें आता है अर्थात् दिखता है और समझमें आता है। कलसे हम यह लेंगे। भले ही एक (घंटे) की जगह दो घंटे लगें। कि जीवने एक बार भी सच्ची पहचान नहीं की है। सच्ची पहचान नहीं की है (और) ऊपर-ऊपरसे विश्वास किया है। ज्ञानीको मान्य किया है, स्वीकार किया है, और उनकी भक्ति भी की है, पूजा भी की है लेकिन अन्दरसे कुछ नहीं किया (अर्थात्) पहचान करके, परिणमनकी पहचान करके (कुछ) नहीं किया। इसलिए तो सुबह बात चली थी कि पहचान प्रत्यक्षतामें होती है परोक्षतामें नहीं। क्योंकि पहचानमें, परिणमनसे पहचान होती है, परिचयसे परिणमन समझमें आता है और परिणमन (देखनेसे) पहचान होती है। इसके लिये प्रत्यक्षता होना जरूरी है। इसलिए ऐसा कहते हैं कि यदि सच्ची पहचान - विश्वासपूर्वक पहचान हुई हो तो - परिणमन देखकर पहचान हुई हो तो उस जीवको सबसे पहला यही विचार आता है कि मुझे मेरे जीवनमें ज्यादा से ज्यादा समयका इस प्रकारके सत्संगमें ही सद्उपयोग करना है - खर्च करना है। अब, मुझे यह कीमती समयको बिगाड़ना नहीं है। जो समय अब

तक संसारके कार्योंमें पापकी गठरियाँ बांधनेमें ही गया, उस समयको अब सत्संगमें आत्मकल्याणके लिए खर्च करना है। ऐसा (सबसे) पहला विचार आये बिना नहीं रहेगा। यह बाहरका फेरफार है। परिणाम अंतरमें हुए, फेरफार बाहरमें करनेका विचार आया, नंबर एक।

दूसरा, अंतरमें ``**अपने दोषोंको क्षण क्षणमें, कार्य कार्यमें और प्रसंग प्रसंगमें तीक्ष्ण उपयोगसे देखे;...**'' क्या ? यह अन्दरका कार्य है। क्योंकि दोष अंतरंग परिणाममें होते हैं उसका बाहरके कोई फेरफारसे सम्बन्ध नहीं है। बाहरमें कोई भी परिस्थिति हो, किसी भी परिस्थितिमें दोष हो जाने की संभावना है। जिसे अंतरंग दृष्टि प्रगट हुई, वह बाहरकी परिस्थितिको देखना बंद करता है या बाह्य स्थितिको गौण करके, खुदको प्रत्येक क्षणमें क्या दोष चल रहा है ? प्रत्येक कार्यमें कैसे दोष होते हैं ? प्रत्येक प्रसंगमें कैसे (दोष) हो रहा है ? वह तीक्ष्ण उपयोग करके अर्थात् बारीकीसे देखता है। खुदके दोषको देखनेकी ऐसी एक दरकार उत्पन्न होती है। पत्रांक २५४में भी यह बात आयी है (कि) `दोषको देखना' - दोषका विचार करना - ऐसा नहीं लिया है। यहाँ पर भी दोषको देखनेकी ही बात करते हैं। चलते हुए प्रसंगमें, चालू कार्यमें, चलते हुए क्षणमें (दोषको) देखना। ऐसी जागृति आने पर ही देख सकते हैं वरना नहीं देख सकते। इसमें जागृति आवश्यक है।

(अब,) दूसरी बात यह है कि, जीवको नुक़सान कहाँ होता है ? कब होता है ? वर्तमान परिणमनमें होता है। किसीको भूत-भविष्यके परिणमनमें नुक़सान नहीं होता। जीव वर्तमान परिणमनमें ही नुक़सान कर रहा है। अब, अगर वहाँ उसकी दरकार उत्पन्न नहीं होगी तो फिर नुक़सान कैसे बंद होगा ? नुक़सान बंद होनके

लिए दूसरी तो कोई प्रोसेस या प्रक्रिया नहीं होती है। अत: जिसे सत्पुरुषकी या सत्संगकी पहचान होती है उसका खुदके दोष देखनेका एक प्रयोग शुरू हो जाता है - यह प्रयोग है। ये विचार नहीं है लेकिन प्रयोग है और यह प्रयोग शुरू होता है। यहाँ पर ज्ञानीपुरुषकी पहचानका बहुत बड़ा फायदा होता है कि अगर पहचान आती है तो खुदके दोष देखनेके प्रति वृत्ति काम करने लगती है और जब खुद दोषको देखता है तब उस दोषमें जो शक्ति पड़ी है, जिसे कषायशक्ति कहनेमें आती है, वह कषायशक्ति टूट जाती है। जब कषायकी शक्ति तूटती है - कषायरस तूटता है तब दर्शनमोह भी पतला पड़े बिना नहीं रहता। इसका सीधा असर दर्शनमोह पर आता है। विचार तो किसी भी सामान्य मनुष्यको आ सकता है कि भाई ! मेरे तो ऐसे परिणाम हो जाते हैं या हुए थे। लेकिन वह दोष हो जानेके बाद उसका विचार करनेसे वैसे (विचारसे) कोई विशेष फ़ायदा नहीं होता है। क्योंकि उस दोषका नुक़सान तो हो चुका। वह नुक़सान तो भूतकालमें हुआ है, वर्तमानमें उसका सुधार किस तरह हो सकता है ? जिस दोषके परिणाम व्यतीत हो चुके, पूरे हो चुके - उसमें फिर क्या फेरफार हो सकता है ? वह नुक़सान जो हो गया - सो तो हो ही गया। वह तो Done है - Undone कैसे हो सकता है ? (जो) हो चुका (वह) नहीं हुआ कैसे हो सकता है ? हाथमेंसे जो कीमती वस्तु नीचे गिरकर टूट गई, अब जो टूट गई सो टूट ही गई, बात खतम ! नुक़सान तो हो गया सो हो ही गया। उसमें फिर बादमें क्या हो सकता है ? अर्थात् दोषका विचार तो सामान्य मनुष्यको भी आ सकता है, दोष मिटानेके लिए उससे कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता।

अगर आत्माको चलते हुए दोषको देखनेकी जागृति आती है तो उस दोषका रस, उस दोषकी शक्ति उसी वक्त टूटती है, टूट जाती है। इस बातका भी प्रयत्न करके या प्रयोग करके, अनुभव करके स्वीकार करने जैसा है। जब बात प्रयोगकी ही है तब प्रयोग करके ही उसको स्वीकार करना चाहिए, तो ही विश्वासपूर्वक समझमें आयेगा कि कहनेवालेने इस बातका प्रयोग करके इसे कहा है। इस तरह उनका परिणमन समझमें आयेगा। अनुभवकी बात अगर अनुभवसे समझमें आयेगी तभी तो सामनेवालेके अनुभवका विश्वास आयेगा न ! इससे उनके परिणमनका विश्वास आता है। परिणमनसे पहचान होती है तब सच्ची पहचान साक्षीभावसे होती है और ये पहचान निर्वाणपदका बीजभूत कारण है।

अभी हमने `आत्मजागृति' में यह बात शुरू की है। पहला लेख चालू हो गया है। समकितका बीज क्या ? कृपालुदेवके वचनोंके आधारसे यह लेख तैयार किया है। कि समकितका बीज क्या है ? ज्ञानीपुरुषकी पहचान होना, यह प्रत्यक्ष समकितका कारण है और इसके ऊपर तो कृपालुदेवने आत्मसिद्धिमें सत्रहवीं गाथा लिखी है। आत्मसिद्धिकी १७ वीं गाथामें क्या है ?

``स्वच्छन्द मत आग्रह तजी, वर्ते सद्‌गुरुलक्ष। समकित तेने भाखियुं, कारण गणी प्रत्यक्ष।। १७।।''

समकितके कारणको समकित कहा है। समकितके बीजको समकित कहा है। जैसे राजाके कुँवरको राजा कहते हैं वैसे। जब राजाके वहाँ पहला-पहला जो पाटवी कुँवरका जन्म होता है तब सब लोग क्या कहते हैं ? कि आज हमारे राजाका जन्म हुआ। जब कि वह तो भविष्यका राजा है, लेकिन उसे वर्तमानमें ही राजा कहेंगे। लाड लड़ानेके लिए क्या कहेंगे ? कि यह तो हमारा राजा

है राजा ! उसको राजाके रूपमें देखते हैं। इसी तरह ज्ञानीपुरुषकी पहचानको समकितका बीज कहा है। ये पहला समकित है फिर दूसरा समकित आत्मस्वरूपकी पहचानका है, फिर तीसरा समकित निर्विकल्प सम्यग्दर्शन है, जो परमार्थ समकित है। ये तीन बातें कृपालुदेवने ७५१ नंबरके पत्रमें की हैं इसीलिए यहाँ सत्संगमें इस बातका महत्त्व दर्शाया है। सत्संगसे क्या पारमार्थिक लाभ होता है ? अथवा लाभके दृष्टिकोणसे सत्संगका रहस्य क्या है ? इन दोनों प्रश्नोंका उत्तर इसमें आता है। कि सत्संगकी, यथार्थ सत्संगकी अर्थात् ज्ञानीपुरुषकी अगर पहचान हुई तो पहचान होनेसे वह जीव निर्वाणपदका अधिकारी होता है। उसका निर्वाणपद निश्चित हो जाता है। अनंतकालमें एकबार भी अगर सच्ची मुमुक्षुता प्रगट होकर, सत्पुरुषकी पहचान हो जाती है तो वह जीव निर्वाणपदको प्राप्त होगा, होगा और होगा ही। क्योंकि वह दूसरा समकित प्राप्त करेगा (और फिर) तीसरा समकित भी प्राप्त करेगा और जो समकितको प्राप्त करता है उसका मोक्ष होगा कि नहीं होगा यह कोई सोचने जैसा प्रश्न भी नहीं है। उसका मोक्ष तो अवश्य होगा ही।

जब मुमुक्षुको परमार्थ निर्विकल्प सम्यग्दर्शन होता है तब उसके ज्ञानमें स्वसंवेदनकी उत्पत्ति होती है और उस स्वसंवेदनके साथ-साथ, सम्यग्दर्शनके साथ-साथ, ज्ञान स्वसंवेदनरूप परिणमन करता है और उस स्वसंवेदनके साथ-साथ अर्थात् समकालमें - उसी कालमें जीवका आनन्द गुण भी शुद्ध होकर अपूर्व आनन्दरूपमें परिणमन करता है और जीवको पैरसे लेकर मस्तक तक प्रदेश-प्रदेशमें उस ज्ञानानंदकी अनुभूति आती है। तब उस जीवका मोक्ष निश्चित हो ही जाता है। जब सम्यग्दर्शनसे उसकी भवकटि हो जाती है तो आगे उसका मोक्ष होता ही है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शनकी लींक नीचे कहाँसे बैठती है ? उस भूमिकामें वह लींक कहाँसे शुरू होती है ? यह लींक सत्पुरुषकी पहचानसे शुरू होती है। यहाँसे लाइन को अलग की है। वैसे तो जितने मुमुक्षु हैं वे सब सामूहिक क्रिया तो एक समान ही करते हैं। इसका मतलब कि स्वाध्याय भी सब साथमें करते हैं, तत्त्वचर्चा भी सब साथमें करते हैं, पूजा-भक्ति भी सब साथमें करते हैं और पर्वके दिन हो तो व्रत-उपवास भी सब साथमें ही करते हैं, यह सब समूहमें होता है फिर भी किसीको ही समकित होता है और बाकी लोगोंको समकित नहीं होता, कोई एक जीवको ही होता है इसका कारण कहाँसे अलग पड़ता है ? इसका विचार और इसका अनुभव कृपालुदेवके वचनामृतमें स्पष्ट है कि वह जीव कहाँसे अलग पड़ता है ? कि जब उसे सच्ची पहचान होती है तबसे। (जब) सच्ची पहचान होती है तब क्या होता है ? कि (वह जीव) बाह्यप्रवृत्तिका संकोच करके कार्य कार्यमें, क्षण क्षणमें और प्रसंग प्रसंगमें तीक्ष्ण उपयोग करके खुदके दोषोंको देखने लगता है। बस ! उसकी शुद्धिकरणकी प्रक्रिया चालू हो गई। उस आत्माकी आत्मशुद्धि होनेकी प्रक्रिया अर्थात् प्रोसेस (Process) इस प्रकारके तीक्ष्ण उपयोगके कारण चालू हो जाती है और उसके दोष परिक्षीण होने लगते हैं। परिक्षीण करना मतलब परिक्षीण होने लगना।

``**और उस सत्संगके लिए...**'' यानीकि ऐसे यथार्थ सत्संगकी उपलब्धिके लिए, प्राप्त करनेके लिए, ``**देहत्याग करनेका योग होता हो तो उसे स्वीकार करे;...**'' कितना मूल्य दिया ? कि सत्संग(तो) प्राणसे भी प्यारा होना चाहिए, ऐसा कहते हैं। देहत्याग तो कब होता है कि जब प्राणत्याग होता है तब देहत्याग होता है। यह बात अनंत तीर्थंकरोंकी - अनंत तीर्थंकरोंने कही हुई है। कृपालुदेव

जो यह बात कर रहे हैं वह तो अनंत तीर्थंकरोंने की हुई है। यद्यपि, यह जो कहना पड़ता है ये हमारी ट्रेजडी (हमारे लिये शरमिंदा होने जैसा) है। लेकिन यह बात उतनी ही विश्वासपूर्ण है और इसीलिए अन्यमतमें भी इस बातका प्रचार बहुत है। करीब एक वर्ष पहले अन्यमतकी एक सामान्य पुस्तक हाथमें आयी थी, छोटीसी पुस्तिका थी। बात तो वृद्धावस्थामें समय किस तरह व्यतीत करना ? उसमें लेखकने अनेक पहलुओंसे खुदके विचार रखे थे। उसमें एक सत्संगका प्रकरण था, कि वृद्धावस्थामें - बुढ़ापेमें शरीर (तो) काम नहीं करता है, इसलिए बाह्य प्रवृत्ति तो छोड़ना नहीं भी चाहे तो भी छोड़नी पड़ती है या कोई-कोई समझकर भी छोड़ देते हैं। तब, उसको समय कैसे व्यतीत करना ? यह एक प्रश्न खड़ा होता है। एक समस्या खड़ी होती है और फिर अखबार पढ़ेंगे या टी.वी. देखेंगे और शामको गार्डनमें जाकर हँसी-ठठोली करेंगे। जीव ऐसे ही मनुष्य आयुका समय - कीमती समय व्यर्थ ही बिगाड़ता है। ऐसा समय बिगड़े नहीं इसके लिए उसको क्या-क्या करना चाहिए ? इसके लिए लेखकके जो विचार थे उसमें सत्संगके प्रकरणमें एक बात बहुत सुंदर लिखी थी कि सत्संगका मूल्य इतना आना चाहिए जितना श्वासोच्छ्वासका मूल्य आता है। सत्संग तो श्वास हो जाना चाहिए। सत्संग तो प्राण हो जाना चाहिए। यहाँ तो कहते हैं कि (सत्संग) प्राणसे (भी) अधिक हो जाना चाहिए। यदि सत्संगका इतना मूल्य आयेगा तो सत्संग अवश्य सफल होगा ही और अगर इस प्रकारसे सत्संगका मूल्य नहीं आएगा तो सत्संग कैसे सफल होगा ?

``**...उस सत्संगके लिए देहत्याग करनेका योग होता हो तो उसे स्वीकार करे;...**'' इसमें बहुत बातें हैं। उसको समाज की शरम

तो भरनी होती नहीं है; क्योंकि आदमी देहत्याग तक कब पहुँचता है कि जब उसे समाजकी दरकार तो रहती ही नहीं है (कि) समाज क्या कहेगा ? दूसरा, कि उसको कुटुम्बकी परवाह नहीं रहेगी कि कुटुम्बवाले राज़ी रहेंगे या नाराज़ होंगे, उसकी भी दरकार नहीं रहेगी और उसको शरीरकी दरकार भी नहीं रहेगी। यह दो दरकारके (समाज व कुटुम्ब) छूटनेके बाद तीसरी दरकारकी बारी आयेगी क्योंकि उन दोनोंका शरीरके साथ सम्बन्ध है। कुटुम्बवालेको किसके साथ सम्बन्ध है ? कि शरीरके साथ सम्बन्ध है और उस कुटुम्बको समाजके साथ सम्बन्ध है। जिसको देहकी दरकार छूट गई - शरीरकी दरकार छूट गई कि मृत्यु कल होनेवाली हो तो भले ही आज हो जाये, क्या ? इस देहका आयुष्य कल पूरा हो या आज पूरा हो जाये, कोई बात नहीं। मुझे तो सत्संगकी उपासना करनी है। मुझे तो सत्संगकी ही आराधना करनी है और मेरे प्राणसे भी उसकी कीमत अधिक है। इस तरह जब सत्संगकी उपासना की जाती है, (उसका) स्वीकार किया जाता है, तब उस सत्संगका लाभ - पारमार्थिक लाभ अवश्य होता है, होता है और होता ही है। क्योंकि फिर उस सत्संगमें पूरी दरकार रहेगी वरना सब बातें ऊपरसे जायेगी। ``**देहत्याग करनेका योग होता हो तो उसे स्वीकार करे; परन्तु उससे किसी पदार्थमें विशेष भक्तिस्नेह होने देना योग्य नहीं है।**'' देखिये ! यह कृपालुदेवकी सीधी आज्ञा है कि किसी भी पदार्थके प्रति अधिक राग या स्नेह रखनेकी कोई ज़रूरत नहीं है। भक्तिस्नेहका अर्थ है कि राग व स्नेह। किसीके स्नेहमें रहकर अगर जीव सत्संगको गौण करता है तो आत्मकल्याण कदापि नहीं हो सकता। इसका अर्थ ये भी होता है कि सत्संगकी उपासना करनेवाला कोई ऐसा-वैसा नहीं होता है। उसका पुरुषार्थ, उसका

वीर्य, ऐसा होता है कि चाहे कैसी भी परिस्थिति के लिए वह तैयार रहता है लेकिन सत्संग छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता है।

``**किसी पदार्थमें...**'' ऐसे लिया है। किसी पदार्थमें उससे अधिक माने सत्संगसे विशेष भक्तिस्नेह अर्थात् अधिक भक्तिस्नेह होने देना योग्य नहीं है। इसका मतलब यह है कि कहीं पर भी हमारा वज़न नहीं जाना चाहिए। ``**तथा प्रमादवश रसगारव आदि दोषोंसे उस सत्संगके प्राप्त होनेपर पुरुषार्थधर्म मंद रहता है, और सत्संग फलवान नहीं होता, ऐसा जानकर पुरुषार्थवीर्यका गोपन करना योग्य नहीं है।**'' यह जो अंतिम वचनामृत है उसका थोड़ा विशेष स्वाध्याय करने योग्य है। समय हो गया है। कलके स्वाध्यायमें विशेष लेंगे।

जब तक अपने मूल स्वरूपकी पहचान नहीं होती है तब तक कर्तव्य-अकर्तव्यका यथार्थ निश्चय नहीं हो सकता।

भावना आत्मरसकी परिणतिकी जन्मदाता है।

(-पूज्य भाईश्री)

श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत पत्रांक ६०९ चल रहा है। ग्यारहवाँ पैराग्राफ चल रहा है। यहाँ मुमुक्षुजीवको सत्संगका कितना मूल्य होना चाहिए उस पर प्रकाश डाला है। आत्माके परम हितका कारण होनेसे सत्संगका मूल्य इतना होना चाहिए कि उस सत्संगके लिए अगर देहत्याग करनेका योग होता हो तो भी उसका स्वीकार करना चाहिए। मुमुक्षुजीवको खुदके प्राणसे भी विशेष मूल्य सत्संगका होता है। ऐसा क्यों ? इसलिए कि अनंत जन्म-मरणसे बचनेका यह एक सर्वोत्कृष्ट साधन है। यदि इतना मूल्य आया होगा तो ही वर्तमान भवके प्राणसे भी उसका मूल्य अधिक आयेगा। जैसे मनुष्यको अन्नके बिना नहीं चलता, ऐसे कहा जाता (है) कि, अन्न-पानीके बिना तो नहीं चल सकता है। लेकिन यहाँ मुमुक्षुको तो ऐसा प्रकार होना चाहिए कि एकबार अन्न-पानीके बिना भी चलेगा, परन्तु सत्संगके बिना नहीं चलेगा, हवाके बिना चलेगा परन्तु सत्संगके बिना नहीं

चलेगा। इतना मूल्यांकन आने के बाद भी उस जीवको सत्संगसे पारमार्थिक फायदा न हो ऐसा हो नहीं सकता। अभिप्रायमें यहाँ तककी तैयारी होनी चाहिए, इतनी हद तककी तैयारी हो जानी चाहिए।

सत्संग माने क्या ? कि आत्मकल्याणका एक साधन। वह (सत्संग) अगर Top Priority में आता है तो परिणामोंका प्रवाह कितना बदल जाता है वह एक अनुभव करने जैसा विषय है। परिणामोंका पूरा प्रवाह ही अलग तरीकेसे चलने लगेगा। अन्यथा, Last Priority में आत्मकल्याण और Top Priority में संसार तो है ही। ऐसी स्थिति तो अनादिसे है ही और इसी वजहसे जीवका संसार परिभ्रमण मिटा नहीं है (अर्थात्) चालू रहा है और जीव संसारमें जन्म-मरण कर रहा है। (गणितकी) दृष्टिसे तो ये बहुत सीधा गणित है और इतना सीधा गणित भी क्यों गिनतीमें नहीं आता है; यह एक सबसे बड़ा आश्चर्य है या सबसे बड़ी विचित्रता है। यदि हमको कोई ऐसा कहे कि एक मरणसे - आपको आपके एक मरणसे बचा ले तो इसके लिए आप कुछ भी करनेको तैयार हो जायेंगे कि नहीं ? अथवा मरणका प्रसंग आ जाय और बचाने के लिए कोई तैयार हो जाये तो (खुदका) अभिप्राय ऐसा है कि नहीं ? (कि) आकाश-पाताल भले ही एक हो जाय लेकिन मरना नहीं है। हमारे अभिप्रायमें यदि हम एक मरणसे बचनेके लिए आकाश-पाताल एक करनेके लिए तैयार हैं, तो फिर अनंत जन्म-मरण के लिए कैसा भी साहस करें - अनंत जन्म-मरणसे बचनेके लिए कैसा भी साहस करें या कोई भी कीमत चुकानेकी हमारी तैयारी होवे, वह अभिप्राय की दृष्टिसे सीधी - सादी गिनती हो सके ऐसी ही बात है। लेकिन फिर भी अगर ऐसा नहीं हो रहा है, ऐसा नहीं होता है, तो हम

सादा गणित भी चूकते हैं। एक + एक = दो, जैसी बातमें भी गलती करते हैं।

वैसे तो हमलोगोंमें से ज़्यादातर व्यापारी हैं और व्यापारीका तो गिनतीका ही धंधा है, चौबीसों घंटे वह गिनती ही करता रहता है लेकिन जब तक जीवके परिणामोंमें दर्शनमोह खड़ा है तब तक उसे ये सीधी-सादी गिनती भी समझमें नहीं आती या फिर समझनेके बावजूद भी उसकी अवहेलना होती है, ये सोचने जैसा है। इसलिए (ये) यूँ ही नहीं लिखा है कि, ``**सत्संगके लिये देहत्याग करनेका योग होता हो तो उसे स्वीकार करे;.....**'' यह कोई अतिशयोक्ति भरी लिखावट नहीं है। बहुत समझकर संतुलित अवस्थामें - उपयोगपूर्वक लिखा हुआ विषय है। ``**परन्तु उससे** (अर्थात् सत्संगसे) **किसी** (अन्य) **पदार्थमें विशेष भक्ति-स्नेह होने देना योग्य नहीं है।** '' जगतमें सत्संगसे अधिक मूल्य देने जैसा न कोई कार्य है, न कोई पदार्थ है, न ही कोई प्रसंग है; ये बात मुमुक्षुकी समझमें होनी चाहिए। ``**तथा प्रमादवश रसगारव आदि दोषोंसे उस सत्संगके प्राप्त होनेपर पुरुषार्थधर्म मंद रहता है, और सत्संग फलवान नहीं होता, ऐसा जानकर पुरुषार्थवीर्यका गोपन करना योग्य नहीं है।**'' जीव शिथिलताके वशात् सत्संगकी उपासनामें पुरुषार्थ न लगाये (अर्थात्) सत्संग प्राप्त होने पर भी उस सत्संगमें खुदके प्रयोजनकी सिद्धि के लिये पुरुषार्थ का प्रयोग नहीं करता है, इसका एक कारण शिथिलता अर्थात् प्रमाद भी है या फिर रसगारवादि दोष माने खान-पीन, पहनने-ओढ़ने आदि अनेक प्रकारके खुदके उदयभावोंमें विशेष रस होनेसे खुदका पुरुषार्थ उठता नहीं है, चलता नहीं है, ऐसी परिस्थिति बनती है और इसलिए भी सत्संग निष्फल जाता है और फलवान नहीं होता। ऐसा जानकर, ऐसा समझकर पुरुषार्थका

गोपन करना योग्य नहीं है। इसीलिए ऐसा कहा है कि, यदि मनुष्य पर्यायमें यथार्थ समझ करें, तो जीवकी अवस्थामें पुरुषार्थका उघाड़, जिसको शास्त्रमें वीर्य गुणका क्षयोपशम कहते हैं, वह तो पर्याप्त मात्रामें प्रगट है ही। खुदके प्रयोजनकी सिद्धि हेतु पुरुषार्थ पर्याप्त मात्रामें प्रगट ही है। असंज्ञी या चार इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, दो इन्द्रिय या एकेन्द्रिय जीवोंकी जो परिस्थिति है - वैसा नहीं है। खुदके हितरूप प्रयोजनकी सिद्धिके लिए मनुष्य पर्यायमें या कोई भी संज्ञी पंचेन्द्रिय पशुको भी उसके पुरुषार्थकी (शक्ति) प्रगट होती ही है। उसे वीर्यगुणका इतना क्षयोपशम प्रगट होता ही है। अतः मैं पुरुषार्थ नहीं कर सकता, या मेरा पुरुषार्थ कम है, इसलिये मेरा आत्मकल्याण कैसे होगा ? ऐसा विचार या ऐसा अभिप्राय मूलमेंसे ही निकाल देने योग्य है।

``**सत्संगकी अर्थात् सत्पुरुषकी पहचान होनेपर भी यदि वह योग निरंतर न रहता हो तो सत्संगसे प्राप्त हुए उपदेशका ही प्रत्यक्ष सत्पुरुषके तुल्य समझकर विचार करना तथा आराधन करना कि जिस आराधनासे जीवको अपूर्व सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।**'' यह एक ही वचनामृत जीवको सम्यक्त्व प्राप्तिके लिए पर्याप्त है - क्या कहते हैं ? ``**सत्पुरुषकी पहचान होनेपर भी यदि वह योग निरंतर न रहता हो तो...**'' सत्पुरुषकी पहचानके बाद - सत्पुरुषका योग निरंतर रहे, ऐसी भावना सामान्यरूपसे पहचानवालेको रहती, रहती और रहती ही है। क्योंकि, वह आत्माके परम हितका कारण है। अतः वह निरंतर सत्संगमें रहना चाहता हो, यह बहुत स्वाभाविक है। परन्तु, प्रारब्ध कर्म तो दोनोंको है। ज्ञानीको भी प्रारब्ध कर्मका बंधन है और मुमुक्षुको भी प्रारब्ध कर्मका बंधन होता है। बंधन होता है इसका मतलब ये नहीं है कि सत्संगमें रहने की भावना न हो

और इसलिए उस बंधनके विषयमें वह खुद समाधान कर लेता है, ऐसी बात भी नहीं है। भले ही समाधान न हो, साथमें सत्संगमें रहनेका पूरा-पूरा प्रयत्न भी हो, भावना भी पर्याप्त हो और प्रयत्न भी पर्याप्त हो फिर भी योगानुयोग ऐसा हो सकता है कि निरंतर सत्संगमें रहना नहीं हो पाता हो - ऐसा होना संभवित है। क्योंकि बाहरकी परिस्थिति - जीवके अधिकारका विषय नहीं है, जीवके बसकी बात नहीं है- ऐसी एक वस्तुस्थिति है। भले ही भावना उस वस्तुस्थितिको स्वीकार नहीं करती हो, ऐसा बन सकता है कि भावना उसको स्वीकार नहीं करती हो, फिर भी वस्तुस्थिति तो वस्तुस्थिति ही रहती है। ऐसी परिस्थितिमें मुमुक्षुजीवको क्या करना चाहिए ? कि उसे सत्संगमें जो उपदेश प्राप्त हुआ है अर्थात् खुदके प्रयोजनका जो विषय उसे समझने मिला हो, उसको उपदेश कहते हैं। वैसे देखा जाय तो उपदेशका विस्तार तो बहुत है लेकिन खुदकी वर्तमान योग्यतामें उस योग्यतासे आगे बढ़नेके लिए जो उपदेश है - वही उपदेश खुदके लिए प्रयोजनभूत है और इस उपदेशको प्रत्यक्ष सत्पुरुष तुल्य मानकर - अर्थात् उस वक्त सत्पुरुषको हृदयमें प्रत्यक्ष करके इस उपदेशका विचार करना, विचार करना उतना ही नहीं; विचार करके उसका अमलीकरण भी करना। विचार करना एवं आराधन करना (और) उसका अमलीकरण भी करना। उपदेशके विषयमें सत्पुरुषको प्रत्यक्ष तुल्य करना मगर उनके सत्संगके लिए जब सत्संग के लिए प्रत्यक्ष न हो तब समाधान नहीं कर लेना चाहिये। ऐसी बात है।

फिरसे, दो बात अलग-अलग हैं। (एक) यह कि अगर सत्पुरुष परोक्ष हो तो उनको कल्पनामें प्रत्यक्ष करना - (दूसरा) उनके समागमका वियोग रहे तब इसकी वेदना भी न हो इस प्रकारसे

समाधान कर्तव्य नहीं है, करने योग्य भी नहीं है। क्योंकि वैसी विरहवेदना भी जीवके आत्मकल्याणमें कारणभूत है। उस विरहवेदनासे जीवका दर्शनमोह गलता है। जैसे सत्पुरुषके समागममें हर्ष होता है तो भी दर्शनमोह गलता है वैसे ही उनके वियोगकी वेदनासे भी दर्शनमोह गलता है। इस तरह ये दोनों प्रकारके परिणाम स्वाभाविकरूपसे होने योग्य हैं अथवा होने चाहिए। इस बातकी अपेक्षा रखते हुए, अगर फिर भी, सत्संगका योग न रहता हो तो उपदेशका ग्रहण करनेके हेतुसे उनको प्रत्यक्ष तुल्य जानना। उनके उपदेशका अवधारण करनेके लिए, आराधन करनेके लिए, उनको प्रत्यक्ष तुल्य जानना और उसी प्रकारसे अगर अमलीकरण किया जाये, आराधन किया जाये तो उनकी आज्ञा शिरोधार्य करनेसे अपूर्व ऐसा सम्यक्त्व उत्पन्न होगा। अपूर्व ऐसे सम्यक्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्रकी उत्पत्ति अवश्य होगी।

प्रश्न : किस तरह ?

पू. भाईश्री : होता है - अर्थात् यहाँ कर्ताबुद्धिसे करनेका प्रश्न (बात) नहीं है। अगर जीव प्रत्यक्ष योग - प्रत्यक्ष सत्संगको निरंतर इच्छता है तो उसकी जो इच्छा है उस इच्छामें वह समझौता या समाधान कर लेनेका प्रकार उसको नहीं बनता; परन्तु तब तो फिर परिणाम सहज ही विरहवेदनाके चलेंगे। परिणाम अगर विरहवेदनाके चलते हो तो उसका फल क्या है ? इतना समझने के लिए यह बात कही है कि इसमें दर्शनमोह गलता है, इतनी सी बात है। और ऐसा भी स्वाभाविकरूपसे होना चाहिए या होने योग्य है, इतनी बात है। इसमें कृत्रिमता नहीं चलती। जिसे पहचान हुई है उसका तो ऐसा प्रकार सहजरूपसे बनेगा, यह प्रकार सहज ही होगा। लेकिन इस विरहमें भी उपदेशका अंगीकार व उपदेशका आराधन

होना, यह तो ज़रूरी है ही। और उसमें जैसे मानो वे प्रत्यक्ष उपस्थित हैं, हाज़िर हैं और उपदेश कर रहे हैं और मुझे उनकी आज्ञाका पालन करना (ही) है; ऐसा प्रकार आना चाहिए तो अपूर्व ऐसा सम्यक्त्व अवश्य उत्पन्न होगा, ऐसा कहना चाहते हैं। उसका वह लाभ है कि कार्य अवश्य होगा ही।

``**जीवको मुख्यसे मुख्य और अवश्यसे अवश्य यह निश्चय रखना चाहिये कि मुझे जो कुछ करना है वह आत्माके लिए कल्याणरूप हो, उसे ही करना है,..**'' यह सुविचारणाका स्वरूप है अथवा जिसको सुविचारणा होती है उसका अभिप्राय ऐसा होता है। इसकी एक गाथा आत्मसिद्धिशास्त्रमें कही है,

``**ज्यां प्रगटे सुविचारणा, त्यां प्रगटे निज ज्ञान;**
जे ज्ञाने क्षय मोह थई, पामे पद निर्वाण।।''

(आत्मसिद्धिशास्त्र गाथा - ४१)

एक गाथामें सुविचारणासे लेकर निर्वाणपद तकका अद्‌भुत संकलन है कि अगर जीवको सुविचारणा उत्पन्न हुई तो उसके फलस्वरूप आत्मज्ञान होगा, होगा और होगा ही। निजज्ञान माने आत्मज्ञान और ये आत्मज्ञान ऐसा है कि वह निर्वाणपदकी प्राप्ति करायेगा, करायेगा और करायेगा ही। ऐसी सुविचारणा माने क्या ? अर्थात् वह कैसी होती है ? कि मुझे जो कुछ भी करना है, वह आत्माके लिए कल्याणरूप हो, वही करना है। और इतना वाक्य कहनेके लिए सुविचारणा पर कितना ज़ोर दिया है कि, ``**मुख्यसे मुख्य और अवश्यसे अवश्य**'' मुमुक्षुजीवको यह निश्चय होना चाहिए कि मुझे जो कुछ करना है वह आत्माके लिए कल्याणरूप हो, वही करना है। ऐसे निर्धारके कारण, ऐसे निश्चयके कारण परिणाम के अन्दर बहुत बड़ा फेरफार - जिसे बड़ा Radical Change कह

सके, वह आता है। इसको आत्मकल्याणका लक्ष्य कहा है, कि प्रत्येक कार्यमें जो कुछ करना है वह आत्मकल्याण हो, आत्मकल्याणरूप हो वही करना है, इसका अर्थ क्या है ? कि संसारमें तो अनेक कार्य होते हैं और उन सभी कार्योंमें आत्मकल्याण होवे ऐसा नहीं बनता। मनुष्यको आजीविका (निर्वाह) के लिए पैसे कमानेके लिए बाज़ार जाना पड़ता है, तो उसमें आत्मकल्याण कैसे हो ? उस वक्त यह सुविचारणा कैसे काम करती है ? तब लक्ष्य ऐसे काम करता है कि जब इन परिणामोंसे मेरे आत्माका कल्याण नहीं होता है तो अकल्याण तो ज़रूर होता (ही) है। अकल्याण होता है अर्थात् नुक़सान तो होता ही है। तब फिर उस नुक़सानमें उसको कितना उत्साह आयेगा ? कितना उत्साह आयेगा ? या कितनी उमंग आयेगी ? लेकिन किये बगैर नहीं चलता है इसलिए नीरसतासे भी उस प्रवृत्तिमें जीव जुड़ता है। लेकिन जिसको चल सकता है अथवा जिसको कमानेकी जरूरत न हो, पैसे कमानेकी जरूरत न हो उसे तो निवृत्ति लेनेमें देर नहीं लगेगी, क्योंकि उसको लगेगा कि ऐसा नुक़सानीका धंधा जब तक नहीं समझते थे तब तक तो मैंने चालू रखा लेकिन अब जब जरूरत नहीं है तो फिर मुझे क्यों ऐसी प्रवृत्ति करनी चाहिए ? ऐसा प्रपंच मुझे क्यों खड़ा रखना चाहिए ? ऐसी सुविचारणाके साथ-साथ आत्मकल्याणकी भावना उसके प्रत्येक कार्यमें रहेगी।

२३वें सालमें कृपालुदेव एक पत्र लिखते हैं कि मुझे जो कुछ करना है वह आत्मकल्याणरूप हो वही (करना है) अर्थात् आत्मार्थ के लिए ही करना है। उसमें उन्होंने कुछएक वचन लिए हैं कि बोलना है तो भी आत्मार्थ के हेतु और मौन रहना है तो भी आत्मार्थ हेतु, खाना है तो भी आत्मार्थ हेतु और नहीं खाना माने उपवास

करना है तो भी आत्मार्थ हेतु, कमाना है तो भी आत्मार्थ हेतु और निवृत्ति लेना है तो भी आत्मार्थ हेतु; इसका अर्थ क्या होता है ? कि निरंतर एक ही लक्ष्य रहता है कि मैं अपने आत्मकल्याणसे च्युत होकर तो कुछ करता नहीं हूँ ना ! फिर भले ही अकल्याणरूप परिणाम होते हों लेकिन उसका खेद और उसमें उत्साह का अभाव, उमंगका अभाव, रसका अभाव हुए बिना नहीं रहेगा। (इस प्रकारकी सुविचारणा) जिसे उत्पन्न होगी उसको आत्मज्ञान उत्पन्न होगा, होगा और होगा ही। क्योंकि उसका लक्ष्य ही (वह है)। प्रत्येक कार्यमें प्रत्येक परिणमनमें लक्ष्य नहीं छूटता।

``**और उसीके लिये...**'' अर्थात् आत्माको कल्याणरूप हो उसके लिये ही ``**इन तीन योगोंकी उदयबलसे प्रवृत्ति होती हो तो होने देना,...**'' होने देना; कब ? आत्मकल्याणके लक्ष्यसे मन, वचन, कायाकी प्रवृत्ति उदयबलसे माने पूर्वकर्मके प्रारब्ध अनुसार अगर होती हो तो उसे होने देना, ``**परन्तु अंतमें उस त्रियोगसे रहित स्थिति करनेके लिए...**'' अर्थात् अशरीरी सिद्धपद होनेके - प्राप्त करनेके लिये, ``**उस प्रवृत्तिका संकोच करते करते क्षय हो जाये, यही उपाय कर्तव्य है।**'' ऐसी प्रवृत्ति करते वक्त क्या लक्ष्य रहता है ? कि इसका संक्षेप करके - निवृत्तिमें आना है और प्रवृत्तिका इतना संकोच करना है कि अंतमें बिलकुल बंद हो जाये और वैसे खुदका आत्मकल्याण हो ऐसा उपाय कर्तव्य है - ऐसा उपाय करना चाहिए।

कृपालुदेवका यह बहुत सुंदर मार्गदर्शन है। प्रवृत्तिमें खड़े किसी भी मुमुक्षुके लिए यह बहुत सुंदर मार्गदर्शन है, कि प्रवृत्तिमें रहकर भी मेरा लक्ष्य खुदके कल्याण व अकल्याण सम्बन्धित भावों पर रहता है कि नहीं रहता ? क्योंकि उसका लक्ष्य रहना बहुत आवश्यक है। अगर इतनी जागृति न रही और अजागृत दशामें ही उदयकी

प्रवृत्ति होगी तो अब तक जैसे काल अजागृतदशामें व्यतीत हुआ है और मोक्षमार्गकी, आत्मज्ञानकी प्राप्ति नहीं हुई है - वैसी की वैसी परिस्थिति खड़ी रहेगी। आत्मज्ञान जो कि सर्व दु:ख, सर्व क्लेशसे मुक्त होनेका एक (मात्र) कारण है और जीवको थोड़ा भी क्लेश या दु:ख तो चाहिए नहीं; तो ऐसा आत्मज्ञान होनेके लिए अगर कोई खास प्रकारका परिणमन है तो यही है कि आत्मकल्याण करनेका लक्ष्य रहना। अगर इसी लक्ष्यसे प्रवृत्ति होगी तो उस प्रवृत्तिका संकोच करनेका उपाय होगा, होगा और होगा और अंतमें जीवकी इसमें जीत होगी - वह हारेगा नहीं। अनंत ज्ञानियोंका यह क़ौलक़रार है, कि अगर जीव निष्ठापूर्वक आत्मकल्याणका प्रयत्न करें तो उसका आत्मकल्याण होगा, होगा और होगा ही। उसके लिये यहाँ गारंटी दी है। जगतके कार्य प्रारब्ध अधीन हैं। जब कि जगतके पदार्थोंके लिए कोई पुरुषार्थ व प्रयत्न करे तो ऐसा प्रयत्न सफल हो और अगर प्रारब्धयोग न हो तो नहीं भी हो लेकिन आत्मकल्याणके विषयमें प्रारब्धके बल पर काम नहीं होता है - पुरुषार्थके बल पर काम होता है। और जो जीव पुरुषार्थ करता है उसका आत्मकल्याण अवश्य होता है, इस बातकी Guarantee ज्ञानी देकर गये हैं। अथवा अब तक कोई एक अपवाद के रूपमें भी ऐसा किस्सा नहीं हुआ है कि कोई (जीव) अंतरकी गहराईसे खुदका आत्मकल्याण करनेके लिए तैयार हुआ हो और उसीके पुरुषार्थमें लगा हो फिर भी उसे सफलता न मिली हो, ऐसा एक भी किस्सा अपवादके रूपमें नहीं है। ऐसा यह एक Guaranteed मार्ग है और इसलिए जीवको पूरे उत्साहसे इसके पीछे लगना चाहिए। इसका उपाय क्या है ? ``**वह उपाय मिथ्याग्रहका त्याग, स्वच्छंदताका त्याग, प्रमाद और इन्द्रियविषयका त्याग, यह मुख्य है।**'' आगे ऐसा कहा है कि सत्संगको (जो) बाधा

करनेवाले कारण हैं, उन बाधक कारणोंका त्याग होना चाहिए। यानीकि सत्संगमें मिथ्याग्रह छूट जाने चाहिए। मिथ्याग्रह छोड़नेका एकमात्र साधन सत्संग है। दूसरे किसी भी प्रकारसे मिथ्याग्रह छोड़नेका अवकाश ही नहीं है।

मिथ्याग्रह माने क्या ? कि जीवने खुदकी मतिकल्पनासे जो कुछ भी सोच रखा होता है। अब सत्संगसे समझमें आया हो कि ज्ञानकी दृष्टिसे या वस्तुके स्वरूपकी दृष्टिसे, वस्तुस्थितिसे यह प्रकार सच्चा है। तब उस प्रकारका स्वीकार कर लेना चाहिए, तब पूर्वमें जो मान्यता या समझ कर रखी हो उसका ज़रा भी आग्रह नहीं रखना चाहिए। ज्ञानीपुरुषके (जो) वचन हैं वे जन्म-मरण का नाश करनेके लिए हैं और आत्माका कल्याण हो - शाश्वत कल्याण हो इसके लिए हैं।

(जीवके परिणामोंमें) एक ऐसा बड़ा अवरोध रहता है जिसको यहाँ पर मिथ्याग्रह कहा है। पूर्वाग्रह वह है कि जिसके कारण उस पूर्वग्रह के अनुसार ही सोचने का बनता है। खुदके पूर्वग्रहके अनुसार ज्ञानीके वचनोंका तोलन करना या ज्ञानीपुरुषके वचनोंका अर्थघटन करना, यह जीवको बहुत बड़े नुक़सानका कारण है।

श्रोता : किस तरह ?

पू. भाईश्री : जैसे मानो (पूर्वमें कोई) समझ कर रखी हो (उसके अनुसार अर्थघटन करना)। अभी थोड़े ही दिनों पहले कलकत्तामें एक मुमुक्षु मिले थे। बहुत सज्जन पुरुष थे। उनके पिताजीके समयसे वे सामाजिक प्रवृत्ति बहुत अच्छी करते थे। उनके पिताजी भी समाजसेवाका काम करते थे और उन्होंने भी फिर उठा लिया था। पैसे आदिसे सुखी थे इसलिए बड़ी रकमका एक अच्छा सा ट्रस्ट बनाया कि जिससे उस ट्रस्टमेंसे नि:स्वार्थरूपसे लोगोंकी सेवा हो

सके, समाजसेवा हो सके। फिर ऐसा ट्रस्ट बनाया था तो अगर कोई समाजसेवाके लिए ट्रस्टको Donation देते थे तो उसको स्वीकार भी करते थे और खुद भी अच्छी तरह उसमें अपने तन, मन, धनसे सेवा देते थे। कृपालुदेवके वचन उनको प्रिय तो थे, मगर पूर्वाग्रह कुछ और था तो उन्होंने ऐसा कहा कि कृपालुदेवने अनेक जगह पर पाप छुड़ाकर पुण्य करनेका उपदेश दिया है, ऐसा मुझे लगता है। जब कि कृपालुदेवके अनुयाइयोंमें भी लोग व्यापार - धंधेमें पापकी प्रवृत्ति करते हैं, दो-नंबरीका व्यापार करते हैं या फिर Tax की चोरी करते हैं, ये सब कुछ मुझे अच्छा नहीं लगता। आदमीको प्रमाणिकतासे व्यापार करना चाहिए, तो उसे इस तरहका पाप भी न हो और ज्ञानीपुरुषोंका भी ऐसा उपदेश है। अर्थात् उन्होंनें कृपालुदेवके वचनोंमेंसे इतना अर्थघटन किया। उन्होंने इस प्रकारका सार निकाला कि कृपालुदेव ऐसा कहना चाहते हैं। मैंने कहा, कृपालुदेव कोई सामाजिक कार्यकर्ता नहीं थे। कोई समाजसुधारक नहीं थे। दरअसल तो उनके उपदेशमें जन्म-मरण कैसे मिटे ऐसा जो आत्मकल्याणका रहस्य छिपा है, वह रहस्य हमारी समझमें आना चाहिए, तो (ही) हमने उनके वचनामृतोंका पूरा सद्उपयोग किया गिना जायेगा। वरना सिर्फ़ पाप छोड़ दे और पुण्यकार्यमें ही प्रवर्तन करें, उसमें तो जैसे पाप एक बंधन है वैसे ही पुण्य भी एक बंधन (ही) है। और जिसको भुगतनेके चौदह ब्रह्मांडमें स्थान हैं। जबकि जन्म-मरण व पुण्य-पापका चक्कर तो सबको चालू ही रहता है। क्योंकि, जो नया बंध पड़ेगा उसे भुगतनेके लिए नया जन्म होगा।

भगवानका उपदेश - तीर्थंकरदेवका उपदेश जैसे संसारपरिभ्रमण मिटाने के लिए है वैसा ही उपदेश ज्ञानीपुरुषोंका है और उसमेंसे हमें वह समझमें आना चाहिए। लेकिन, खुदकी कुछ मान्यता और पूर्वग्रह

ऐसे होते हैं कि उसे यह समझमें नहीं आकरके खुदकी मान्यताके अनुसार सब समझमें आता है। ऐसी कोई एक बात आयेगी (कि जो खुदके अनुसार हो) तो उस पर ज़ोर चला जायेगा और दूसरी सभी बातें छूट जायेगी। मिथ्याग्रह माने पूर्वाग्रह क्या काम करता है ? कि खुदकी मान्यता एवं अभिप्रायके अनुसार कोई बात आती है तब उस बातका इतना महत्त्व रहता है कि दूसरी बातोंका महत्त्व छूट जाता है। इसीका नाम पूर्वाग्रह और इसीका नाम मिथ्याग्रह (है)। इसलिए कृपालुदेवने आत्मसिद्धिशास्त्रमें एक बहुत सुंदर गाथा लिखी है कि -

``**ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे, तहाँ समजवुं तेह;**
त्यां त्या ते ते आचरे, आत्मार्थी जन एह।''

(श्री आत्मसिद्धि गाथा - ८)

ज्ञानीपुरुष जहाँ पर जो कहना चाहते हैं वहाँ पर वैसा ही समझना और वैसा ही आचरण करना। उसीमें आत्मार्थिता है। परन्तु खुदके पूर्वाग्रहके अनुसार बातको खींचनेसे तो उसमें नुक़सान ही होगा, और कुछ नहीं होगा। और इस प्रकारका पूर्वग्रह अगर जीव सत्संगमें उपस्थित रहकर भी छोड़ता नहीं है तो वह सत्संग विफल ही जायेगा, वह सत्संग फलवान नहीं होगा। यथार्थ सत्संग होने पर भी फलवान नहीं होगा। यह एक बहुत (ही) महत्त्वका विषय है। अत: दूसरे ढंगसे कहा जाय तो हमारे पुराने अभिप्रायों को छोड़कर बैठना चाहिए, यद्यपि पुराने अभिप्रायोंको छोड़ना इतना आसान नहीं है। पुराने अभिप्रायोंको छोड़कर समझना चाहिए लेकिन पुराने अभिप्राय छोड़ना इतना आसान इसलिए नहीं है क्योंकि जब खुदके अभिप्राय विरुद्ध, पूर्वाग्रह विरुद्ध कोई उपदेश आता है तब ही उस पुरानी मान्यताको तोड़ने के लिए मंथन चलता है, अन्दरमें द्वंद

चलता है, अंदरमें बराबर Friction चलता है और तब थोड़ा कष्ट भी पड़ता है तब जाके मान्यतामें सुधार आता है। ऐसे ही बिना मेहनत पूर्वाग्रह मिटता भी नहीं है और सत्संगमें आकर जीवको इस प्रकारमें आना चाहिए कि मेरे विचारसे विरुद्ध कौनसी बात आती है ? मेरे अभिप्रायोंसे विरुद्ध ऐसी कौनसी बात आती है ? इस बातका मुझे सुधार करना है। पूरी गंभीरतासे यह काम शुरू करना चाहिए और इसमें ज़रासा भी ढीलापन नहीं रखना चाहिए। जानते हुए भी नज़र अंदाज़ करनेका तो सवाल ही नहीं है। वरना क्या करते हैं कि खुदकी समझसे विरुद्ध अगर कोई बात आती है तो उसको नज़र अंदाज़ करके छोड़ देते हैं। ऐसे ही छोड़ देते हैं, सोचे बगैर ही छोड़ देते हैं, ऐसा नहीं (करना चाहिए)। खुदके लिए यह ज़्यादा गंभीर बात है और यहाँ तक कि सौ बात सामने आये उनमेंसे निन्यानवे बातोंको स्वीकार करे जो खुदके (अभिप्राय) अनुसार है; बल्कि एक बात ऐसी है जिसका खुदको स्वीकार नहीं आता हो तो उस एक बातको गौण करना कि नहीं करना ? १ प्रतिशत जानकर गौण करना कि नहीं करना ? कि नहीं, बिलकुल नहीं। यह एक प्रतिशतकी बातको लेकर वह सौ प्रतिशतकी हो जानी चाहिए अन्यथा उस निन्यानवेका स्वीकार, अस्वीकाररूप परिणमित होगा। अर्थात् ज्ञानीपुरुषकी एक भी बातका अस्वीकार तो होना ही नहीं चाहिए लेकिन मानो एक भी बातमें अगर शंका भी उठती हो तो वह जीवका स्वच्छंद है। अस्वीकार होना वह जीवका मिथ्याग्रह है और शंका होना वह जीवका स्वच्छंद है। इसका मतलब ये नहीं है कि बिना सोचे-समझे बातको स्वीकार कर लेना या अंधश्रद्धासे मान लेना, ऐसी बात नहीं है। उसका अर्थ ऐसा नहीं है। जब जो बात स्वीकार न हो या शंका होती

हो ऐसा लगे तब सत्संगमें उस बातको (सब प्रकारसे) छेड़कर, टटोलकर उसका सही निर्धार करना चाहिए और जिस प्रकार आत्माका कल्याण हो वैसे कल्याण होने के दृष्टिकोणसे उसकी विचारणा करके स्वीकार करना चाहिए एवं खुदके मिथ्याअभिप्रायों व स्वच्छन्दका त्याग करना चाहिए। अगर इस प्रकारसे सत्संगकी उपासना करनेमें नहीं आती है तो सत्संग कभी फलवान नहीं होता। सत्संगमें आनेसे, सत्संग फलवान होगा ही ऐसा जरूरी नहीं है। यथार्थ प्रकारसे सत्संगकी उपासना होनेसे ही सत्संग फलवान होता है। ऐसी वस्तुस्थिति है।

प्रश्न : कैसे टटोलना ?

पू. भाईश्री : अभी ये स्वाध्याय चल रहा है तो इस स्वाध्यायमें मैं कोई उपदेशक हूँ और आप सब उपदेश लेनेवाले हैं, ऐसा खयाल छोड़ देने जैसा है। ऐसा अभिप्राय नहीं रखना चाहिए। हम सब सत्संगके हेतुसे मिलते हैं और जब सत्संगके लिए ही मिलते हैं तो किसीको भी अपना प्रश्न, अपना विचार रखकर यह बात यथार्थ है कि यथार्थ नहीं है, अगर है तो किस प्रकार यथार्थ है इसकी चर्चा-परिचर्चा आपसमें प्रामाणकितासे, शुद्ध निष्ठासे होनी ही चाहिए। यदि इस तरह आपसमें विचारोंका आदान-प्रदान नहीं होगा तो फिर सुनना भी एक रुटिन हो जायेगा। कि कोई एक वक्ता हैं, उनको बोलने दो और हम सुनते रहें, इस तरह नहीं (बल्कि) बराबर ऊहापोह चलना चाहिए। खुदको जो बात समझमें न आये, बराबर नहीं लगे उसे प्रामाणिकतासे (सत्संगमें) रखना चाहिए, उस पर बराबर चर्चा होनी चाहिए। उस सम्बन्धित जिसे जो विचार आते हो उसकी चर्चा वह बिना संकोच कर सके, ऐसा सत्संगका मुक्त वातावरण (माहोल) होना चाहिए। सत्संगका माहोल मुक्त होना चाहिए तभी बात सभी

पहलुओंसे स्पष्ट होगी। चाहे कितनी भी स्पष्ट बात हो लेकिन परस्पर चर्चासे बातकी तहमें जाकर सभी पहलुओंसे स्पष्ट नहीं हुई हो तो वास्तवमें खुदके लिये वह स्पष्ट नहीं है, और तभी अन्दरमें बात बैठती है। सुनना एक बात है और अन्दरमें परिणमन करना दूसरी बात है। सुननेके बावजूद भी अगर अन्दरमें परिणमित नहीं हुआ तो जो सुना है उसका कोई सदुपयोग नहीं है - उसका कोई उपयोग नहीं है, वह फ़िजूल ही जायेगा, ऐसा होगा। इसका नाम टटोलना है।

हमारे गुरुदेव तो कहते थे कि टटोल-टटोलकर नक्की करो। वे तो (चर्चाके लिए) हररोज एक घंटा देते थे। हररोज़ दो घंटे व्याख्यान देते थे और एक घंटा रात्रिचर्चाका रखते थे। हमारा भी आज पत्र पूरा हो जायेगा, अभी दो दिन बाकी हैं, रात्रिके दो घंटे हमारे पास हैं। कलसे अगर रखना हो तो शामको चर्चाका प्रसंग रखेंगे। जो कुछ भी खुदको प्रश्न हो वह लिखकर लाना फिर उसके ऊपर हम चर्चा करेंगे। जहाँ-जहाँ हमारा स्वाध्याय होता है वहाँ पर हम तो यह बात रखते हैं। चर्चाके लिए नियत समय (होता है)। तब कोई पत्र नहीं लेनेका रहता है बल्कि चाहे किसीको भी प्रश्न हो या जिसकी जो भी बात हो, फिर भले इसमेंसे (ग्रंथमेंसे) हम प्रश्न उठा सकते हैं कि कृपालुदेव यहाँ जो कहते हैं वह हमको समझमें नहीं आता है तो यहाँ वे क्या कहना चाहते हैं? इसमें परमार्थ क्या है ? उसके उपर चर्चा होनी चाहिए। दृष्टांतके रूपमें : हमने घर पर बैठकर इस वचनामृतग्रंथका स्वाध्याय किया हो और सब समझमें नहीं आया हो, अभी जिस तरह हम लोगोंका सत्संग चलता है उसमें तो कोई Particular एक या दो पत्र लिये जाते हैं; जब कि हमको जो समझमें नहीं आया हो ऐसा अगर

कोई इसके अन्दर (ग्रंथमें) विभाग हो वह अगर चर्चाका प्रसंग नहीं होगा तो कैसे समझमें आयेगा ? वरना समझमें नहीं आयी हुई बात तो ऐसे ही मनमें रह जायेगी। अत: सत्संग ऐसे मुक्त वातावरणमें होना चाहिए कि जिसमें हरकोई को खुदकी कैसी भी शंका - असामाधान हो वह समाधान को प्राप्त हो। ऐसा प्रसंग होना चाहिए। क्या कहते हैं ?

मिथ्याग्रहका त्याग करना, स्वच्छन्दका त्याग करना। स्वच्छन्दताके त्यागमें मुमुक्षुजीवके लिए दो बातें हैं; एक तो विषयकषायोंकी जो तीव्ररससे प्रवृत्ति है वह स्वच्छन्दरूप प्रवृत्ति है। जिसे भवभ्रमणका भय हो उसको (विषयकषायकी) प्रवृत्ति बिना कोई काबू या अनर्गल नहीं होनी चाहिए। उसको Control आ ही जाना चाहिए। उसको यह भय होना चाहिए कि मेरा परिभ्रमण - मेरे परिभ्रमणका क्या ? एक तो इस प्रकारके परिणामको स्वच्छन्द कहते हैं इसके अलावा- दूसरा ज्ञानीके मार्गको छोड़कर अपनी मनमानी करके धर्मसाधनकी प्रवृत्ति करना, उसको भी स्वच्छन्दयुक्त प्रवृत्ति कही जाती है। अत: ज्ञानीके निश्चित किये हुए क्रम का ही अनुसरण करना - उसी क्रमसे प्रवेश करना एवं उसी क्रमसे आगे बढ़ना चाहिए। कृपालुदेवने इसके ऊपर ८३ नंबरका पत्र लिखा है और जिन महात्माओंने क्रमका निरूपण किया है उनके प्रति भक्ति व्यक्त की है कि ``**उन्हें नमस्कार हो।**'' इस तरह स्वच्छन्दताका त्याग करना चाहिए। प्रमाद माने शिथिलताका त्याग करना। आत्मकार्यमें शिथिलता नहीं चलती। आत्मकार्यमें तो उग्रतासे परिणमन होना चाहिए। उसमें ढीले-ढच्चड़ रहना - वह पुसाता नहीं है। ऐसे काम नहीं चलेगा। इसलिए कि हमारे पास आयुष्यका जो समय है वह समय अल्प है और अनिश्चित है। थोड़ा है, थोड़ा है और उसका कोई नियम भी नहीं है कि

कब खत्म हो जायेगा, जैसे उबासी आयी और चल पड़े ! इतना अनिश्चित समय है। ऐसी स्थिति है इसलिए ढीले रहनेसे कोई काम नहीं होगा, काम तो त्वरासे कर लेने जैसा है - ऐसा ही अभिप्राय होना चाहिए और उसमें प्रमाद नहीं करना चाहिए। शिथिलता नहीं रहनी चाहिए और इन्द्रियविषयके जो परिणाम हैं उनमें भी नीरसता आ जानी चाहिए।

``**उसे सत्संगके योगमें अवश्य आराधन करते ही रहना,...**'' सत्संगके प्राप्त होने पर इन चारों प्रकारो पर खुदके परिणमनसे कार्य होता है कि नहीं (इसकी जाँच करते रहना चाहिये)। ``**उसे सत्संगके योगमें अवश्य आराधन करते ही रहना, और सत्संगकी परोक्षतामें....**'' अर्थात् प्रत्यक्ष सत्संग न मिले तब, ``**अवश्य अवश्य आराधन किये ही जाना; क्योंकि सत्संगके प्रसंगमें तो यदि जीवकी कुछ न्यूनता हो...**'' अर्थात् जीवमें क्षति हो, ``**तो उसके निवारण होनेका साधन सत्संग है,...**'' सत्संगमें तो (जीवमें) जो क्षति होती है (वह) उसकी चर्चा, परिचर्चासे निकल सकती है और फिर दूसरे साधर्मी मुमुक्षु भी उनका ध्यान खींच सकते हैं कि भाई ! आप इस तरह क्यों प्रवर्तन करते हो ? ये प्रमाद आपके लिए ठीक नहीं है। इन दिनोंमें आप क्यों दिखायी नहीं देते हो ? किन्तु परोक्षतामें तो - जब ऐसे सत्संगकी परोक्षता हो तब तो ऐसा साधन नहीं होता है, ``**परन्तु सत्संगकी परोक्षतामें तो एक अपना आत्मबल ही साधन है।**'' तब अगर खुदके परिणाम बलवान नहीं हो तो फिर सत्संगकी परोक्षतामें तो परिणामोंकी पूरी परिस्थिति ही बदल जायेगी। सत्संगमें जैसे परिणाम रहते हैं वे सत्संग नहीं मिलने पर कितने बिगड़ जाते हैं या कितने फेरफारवाले हो जाते हैं यह बहुभाग सबके अनुभवका विषय है।

``**यदि वह आत्मबल सत्संगसे प्राप्त हुए बोधका अनुसरण न करे,...**'' सत्संगसे जो आत्मबल प्राप्त किया है वह अगर सत्संगकी परोक्षतामें, प्राप्त बोधका अनुसरण न करे, ``**उसका आचरण न करे**'' या ``**आचरणमें होनेवाले प्रमादको** (माने शिथिलताको) **न छोड़े, तो किसी दिन भी जीवका कल्याण न हो।**'' क्योंकि सभीको निरंतर सत्संगका योग रहे ऐसी वस्तुस्थिति तो है नहीं। अब जब ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है, और परोक्षतामें रहना होगा तब जो बोध मिला है और जो आत्मबल प्राप्त हुआ है उसका उपयोग होना ही चाहिए और इसका उपयोग होनेमें ज़रासी भी शिथिलता नहीं आनी चाहिए अन्यथा जीवका कल्याण नहीं हो सकता। क्यों ? क्योंकि जब सत्संग नहीं है तब यह जीव असत्संगसे घिरा हुआ रहता है और असत्संगसे घिरे हुए जीवका बहुत ही अल्पसमयमें (दीर्घकालकी उपासना की हो ऐसे) सत्संग पर भी पानी फिर जानेमें देर नहीं लगती - ऐसी परिस्थिति बनती है। इसलिए जब सत्संगकी प्रत्यक्षताकी परिस्थिति न हो तब मुमुक्षुजीवको विशेष जागृति रखना योग्य है।

``**संक्षेपमें लिखे हुए ज्ञानीके मार्गके आश्रयके उपदेशक इन वाक्योंका...**'' ये जो सब वाक्य हैं वे मार्ग बोधस्वरूप हैं। कैसे हैं ? मार्ग सम्बन्धित बोध इसमें है। किसका मार्ग ? कि ज्ञानीका मार्ग। यह ज्ञानीके मार्गका आश्रय / आराधन किस तरह होता है ? इसका उपदेश इन वचनामृतोंमें, इस पत्रमें है। ऐसा जानकर ``**मुमुक्षुजीवको अपने आत्मामें निरंतर परिणमन करना योग्य है,...**'' खुदके आत्मामें इसका सिर्फ़ विचार करने योग्य है ऐसा नहीं लेकर - उसका परिणमन हो, अंतरमें अमलीकरण हो वैसा करने योग्य है। पढ़ा, सोचा और उसका श्रवण किया यह एक बात है, और जो पढ़ा है, सोचा है, (और) श्रवण किया हो उसका आत्मामें परिणमन होना,

अन्दरमें अमलीकरण करना - यह दूसरी बात है और यह (अमलीकरण) कब होगा ? कैसे होगा ? ये (बात) सत्संगमें ही समझमें आती है कि अमलीकरण तब होता है जब समझमें आयी हुई बातका प्रयोग किया जाता है, जो बात समझमें आयी है उसको खुदके परिणमनमें लागू करनेका प्रयत्न करना-यह प्रयोग है और इसी प्रयोगसे अमलीकरणमें आना बन सकता है। जब तक सुनी हुई - सोची हुई बातका प्रयोग नहीं होगा तब तक अमलीकरण नहीं होगा, परिणमन नहीं होगा। यहाँ परिणमन करनेकी बात है, सिर्फ़ पढ़ लेनेकी बात नहीं है। इसका निरंतर परिणमन करने योग्य है कि, ``**जिन्हें हमने अपने आत्मगुणका विशेष विचार करनेके लिये शब्दोंमें लिखा है।**'' हमने तो खुदके आत्मगुणके लिए लिखा है। केवल आपके लिए लिखा है - ऐसी बात नहीं है। इस बातका विचार करनेसे हमारे आत्मगुण भी आविर्भूत हो ऐसी भावनासे और ऐसे भावमें आकर यह बात (हमने) लिखी है। अत: यह कोई साधारण बात नहीं है। सामान्य गिनने जैसी नहीं है लेकिन आत्मगुण प्रगट करनेमें बहुत ही काममें आये ऐसी उपयोगी वस्तु है। ऐसा जानकर सत्संगमें इसका स्वाध्याय आदि करने योग्य है। यहाँ यह पत्र समाप्त होता है। समय भी समाप्त हुआ है।

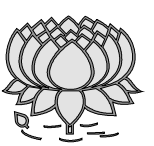

श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
उपलब्ध प्रकाशन (हिन्दी)

	ग्रंथ का नाम एवं विवरण	मूल्य
०१	अनुभव प्रकाश (ले. दीपचंदजी कासलीवाल)	-
०२	आत्मयोग (श्रीमद् राजचंद पत्रांक-४६९, ४९१, ६०९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००
०३	अनुभव संजीवनी (पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा लिखे गये वचनामृत्तोंका संकलन)	१५०-००
०४	आत्मसिद्धि शास्त्र पर प्रवचन (पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा)	५०-००
०५	आत्मअवलोकन	-
०६	बृहद द्रव्यसंग्रह	अनुपलब्ध
०७	द्रव्यदृष्टिप्रकाश (तीनों भाग-पूज्य श्री निहालचंदजी सोगानीजीके पत्र एवं तत्वचर्चा)	३०-००
०८	दूसरा कुछ न खोज (प्रत्यक्ष सत्पुरुष विषयक वचनामृतोंका संकलन)	०६-००
०९	दंसणमूलो धम्मा (सम्यक्त्व महिमा विषयक आगमोंके आधार)	०६-००
१०	धन्य आराधना (श्रीमद राजचंद्रजीकी अंतरंग अध्यात्म दशा पर ॅ पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा विवेचन)	-
११	दिशा बोध (श्रीमद राजचंद्र पत्रांक-१६६, ४४९, ५७२ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
१२	धन्य पुरुषार्थी	-
१३	धन्य अवतार	-
१४	गुरु गुण संभारणा (पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन द्वारा गुरु भक्ति)	१५-००
१५	गुरु गिरा गौरव	-
१६	जिणसासणं सव्वं (ज्ञानीपुरुष विषयक वचनामृतोंका संकलन)	०८-००
१७	कुटुम्ब प्रतिबंध (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१०३,३३२,५१०, ५२८,५३७ एवं ३७४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
१८	कहान रत्न सरिता (परमागमसारके विभिन्न वचनामृतों पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	३०-००
१९	मूलमें भूल (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके विविध प्रवचन)	०८-००
२०	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (श्रीमद राजचंद्र पत्रांक-२५४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	-
२१	मुक्तिका मार्ग (सत्ता स्वरूप ग्रन्थ पर पूज्य गुरुदेवश्रीके प्रवचन)	१०-००

२२	निर्भ्रांत दर्शनकी पगडंडी (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	१०-००
२३	परमागमसार (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके १००८ वचनामृत्त)	-
२४	प्रयोजन सिद्धि (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	०४-००
२५	परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (श्रीमद राजचंद्र पत्रांक-१९५, १२८, २६४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००
२६	प्रवचन नवनीत (भाग-१) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके खास प्रवचन)	२०-००
२७	प्रवचन नवनीत (भाग-२) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके खास प्रवचन)	२०-००
२८	प्रवचन नवनीत (भाग-३) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके ४७ नय के खास प्रवचन)	२०-००
२९	प्रवचन नवनीत (भाग-४) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके ४७ शक्ति के खास प्रवचन)	२०-००
३०	प्रवचन सुधा (भाग-१) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके प्रवचनसार परमागम पर धारावाही प्रवचन)	२०-००
३१	प्रवचन सुधा (भाग-२) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके प्रवचनसार परमागम पर धारावाही प्रवचन)	२०-००
३२	प्रवचनसार	अनुपलब्ध
३३	प्रंचास्तिकाय संग्रह	अनुपलब्ध
३४	सम्यक्ज्ञानदीपिका (ले. श्री धर्मदासजी क्षुल्लक)	१५-००
३५	ज्ञानामृत्त (श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथमें से चयन किये गये वचनामृत्त)	-
३६	सम्यग्दर्शनके सर्वोत्तकृष्ट निवासभूत छ पदोंका अमृत पत्र (श्रीमद रादचंद्र पत्रांक-४९३ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	१८-००
३७	सिद्धिपका सर्वश्रेष्ठ उपाय (श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथमें से पत्रांक-१४७,१९४, २००,५११,५६० एवं ८१९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
३८	सुविधि दर्शन (सुविधि लेख पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	४०-००
३९	समयसार नाटक	अनुपलब्ध
४०	समयसार कलस टीका	अनुपलब्ध
४१	समयसार	अनुपलब्ध
४२	तत्त्वानुशीलन (भाग-१,२,३) (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	२०-००
४३	तत्थ्य	अनुपलब्ध
४४	विधि विज्ञान (विधि विषयक वचनामृत्तोंका संकलन)	१०-००
४५	वचनामृत्त रहस्य (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके नाईरौबीमें हुए प्रवचन	२०-००

-

વીતરાગ સત્‌સાહિત્ય પ્રસારક ટ્રસ્ટ
ઉપલબ્ધ પ્રકાશન (ગુજરાતી)

	ગ્રંથનું નામ તેમજ વિવરણ	મૂલ્ય
૦૧	અધ્યાત્મિકપત્ર (પૂજ્ય શ્રી નિહાલચંદ્રજી સોગાનીજીના પત્રો)	૦૨-૦૦
૦૨	અધ્યાત્મ સંદેશ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના વિવિધ પ્રવચનો)	અનુપલબ્ધ
૦૩	આત્મયોગ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૫૯૬, ૪૯૧, ૬૦૯ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૦૪	અનુભવ સંજીવની (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત વચનામૃત્તોનું સંકલન)	૧૫૦-૦૦
૦૫	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૧) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૦૬	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૨) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૦૭	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૩) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૦૮	અધ્યાત્મ પરાગ	-
૦૯	બીજું કાંઈ શોધમા (પ્રત્યક્ષ સત્પુરુષ વિષયક વચનામૃત્તોનું સંકલન)	-
૧૦	બૃહદ દ્રવ્યસંગ્રહ પ્રવચન (ભાગ-૧) (દ્રવ્યસંગ્રહ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો)	-
૧૧	બૃહદ દ્રવ્યસંગ્રહ પ્રવચન (ભાગ-૨) (દ્રવ્યસંગ્રહ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો)	-
૧૨	ભગવાન આત્મા (દ્રષ્ટિ વિષયક વચનામૃત્તોનું સંકલન)	-
૧૩	દ્વાદશ અનુપ્રેક્ષા (શ્રીમદ્ ભગવત્ કુંદકુંદાચાર્યદેવ વિરચિત	૦૨-૦૦
૧૪	દ્રવ્યદૃષ્ટિ પ્રકાશ (ભાગ-૩) (પૂજ્ય શ્રી નિહાલચંદજી સોગાની તત્ત્વચર્ચા)	૦૪-૦૦
૧૫	દસ લક્ષણ ધર્મ (ઉત્તમ ક્ષમાદિ દસ ધર્મો પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીનાં પ્રવચનો)	૦૬-૦૦
૧૬	ધન્ય આરાધના (શ્રીમદ રાજચંદ્રજીની અંતરંગ અધ્યાત્મ દશા ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા વિવેચન)	૧૦-૦૦
૧૭	દિશા બોધ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્રજી પત્રાંક-૧૬૬,૪૪૯,અને ૫૭૨ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા પ્રવચનો)	૧૦-૦૦
૧૮	ગુરુ ગુણ સંભારણા (પૂજ્ય બહેનશ્રીના શ્રીમુખેથી સ્ફુરિત ગુરુભક્તિ)	૦૫-૦૦
૧૯	ગુરુ ગિરા ગૌરવ (પૂજ્ય સૌગાનીજીની અંગત દશા ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૦	ગુરુ ગિરા ગૌરવ (ભાગ-૧) (દ્રવ્યદૃષ્ટિ પ્રકાશ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પત્રો પર સળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૧	ગુરુ ગિરા ગૌરવ (ભાગ-૨) (દ્રવ્યદૃષ્ટિ પ્રકાશ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પત્રો પર સળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦

૨૨	જિણસાસણં સવ્વં (જ્ઞાનીપુરુષ વિષયક વચનામૃત્તોનું સંકલન)	૦૮-૦૦
૨૩	કુટુંબ પ્રતિબંધ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૦૩, ૩૩૨, ૫૧૦, ૫૨૮, ૫૩૭ તથા ૩૭૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૨૩	કહાન રત્ન સરિતા (ભાગ-૧) (પરમાગમસારમાંથી ચૂંટેલા કેટલાક વચનામૃત્તો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈનાં પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૨૪	કહાન રત્ન સરિતા (ભાગ-૨) (પરમાગમસારમાંથી ક્રમબદ્ધ પર્યાય વિષયક ચૂંટેલા કેટલાક વચનામૃત્તો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈનાં પ્રવચનો)	૩૦-૦૦
૨૫	કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા પ્રવચન (ભાગ-૧) કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૨૬	કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા પ્રવચન (ભાગ-૨) કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૨૭	ક્રમબદ્ધપર્યાય	-
૨૮	મુમુક્ષતા આરોહણ ક્રમ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૨૫૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૧૫-૦૦
૨૯	નિર્ભ્રાંત દર્શનની કેડીએ (લે. પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ)	૧૦-૦૦
૩૦	પરમાત્મપ્રકાશ (શ્રીમદ્ યોગીન્દ્રદેવ વિરચિત)	૧૫-૦૦
૩૧	પરમાગમસાર (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના ૧૦૦૮ વચનામૃત્ત)	૧૧-૨૫
૩૨	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૧) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ખાસ પ્રવચનો)	અનુપલબ્ધ
૩૩	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૨) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ખાસ પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૩૪	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૩) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ૪૭ નય ઉપર ખાસ પ્રવચનો)	૩૫-૦૦
૩૫	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૪) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ૪૭ નય શક્તિઓ ઉપર ખાસ પ્રવચનો)	૭૫-૦૦
૩૬	પ્રવચન પ્રસાદ (ભાગ-૧) (પંચાસ્તિકાયસંગ્રહ પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચનો)	૬૫-૦૦
૩૭	પ્રવચન પ્રસાદ (ભાગ-૨) (પંચાસ્તિકાયસંગ્રહ પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચનો)	-
૩૮	પ્રયોજન સિદ્ધિ (લે. પૂજ્યભાઈશ્રી શશીભાઈ)	૦૩-૦૦
૩૯	પથ પ્રકાશ (માર્ગદર્શન વિષયક વચનામૃત્તોનું સંકલન)	૦૬-૦૦
૪૦	પરિભ્રમણના પ્રત્યાખ્યાન (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૯૫, ૧૨૮ તથા ૨૬૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૪૧	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૪૦-૦૦
૪૨	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૨) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૮૫-૦૦
૪૩	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૩) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૪	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૪) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૪૦-૦૦
૪૫	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૫) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૬	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૬) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૭	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૭) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૪૮	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૮) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦

૪૯	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૯) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૦	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧૦) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૧	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧૧) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૨	પ્રવચનસાર	અનુપલબ્ધ
૫૩	પ્રચારિસ્તકાય સંગ્રહ	અનુપલબ્ધ
૫૪	પદ્મનંદીપંચવિશતી	-
૫૫	પુરુષાર્થ સિદ્ધિ ઉપાય	અનુપલબ્ધ
૫૬	રાજ હૃદય (ભાગ-૧) (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૫૭	રાજ હૃદય (ભાગ-૨) (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૫૮	રાજ હૃદય (ભાગ-૩) (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૫૯	સમ્યક્જ્ઞાનદીપિકા (લે. શ્રી ધર્મદાસજી ક્ષુલ્લક)	૧૫-૦૦
૬૦	જ્ઞાનામૃત્ત (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથમાંથી ચૂંટેલા વચનામૃત્તો)	૦૬-૦૦
૬૧	સમ્યગ્દર્શનના નિવાસના સર્વોત્કૃષ્ટ નિવાસભૂત છ પદનો પત્ર (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૪૯૩ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૬૨	સિદ્ધપદનો સર્વશ્રેષ્ઠ ઉપાય (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૪૭, ૧૯૪, ૨૦૦, ૫૧૧, ૫૬૦ તથા ૮૧૯ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૬૩	સમયસાર દોહન (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજી સ્વામીના નાઈરોબીમાં સમયસાર પરમાગમ ઉપર થયેલાં પ્રવચનો)	૩૫-૦૦
૬૪	સુવિધિદર્શન (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત સુવિધિ લેખ ઉપર તેમનાં પ્રવચન)	૨૫-૦૦
૬૫	સ્વરૂપભાવના (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૯૧૩, ૭૧૦ અને ૮૩૩ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૬૬	સમકિતનું બીજ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથમાંથી સત્પુરુષની ઓળખાણ વિષયક પત્રાંક-ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૩૦-૦૦
૬૭	તત્ત્વાનુશીલન (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત વિવિધ લેખ)	-
૬૮	વિધિ વિજ્ઞાન (વિધિ વિષયક વચનામૃત્તોનું સંકલન)	૦૭-૦૦
૬૯	વચનામૃત રહસ્ય (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના નાઈરોબીમાં બહેનશ્રીના વચનામૃત્ત પર થયેલાં પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૭૦	વચનામૃત્ત પ્રવચન (ભાગ-૧)	-
૭૧	વચનામૃત્ત પ્રવચન (ભાગ-૨)	-
૭૨	વચનામૃત્ત પ્રવચન (ભાગ-૩)	-
૭૩	વચનામૃત્ત પ્રવચન (ભાગ-૪)	-
૭૪	યોગસાર	અનુપલબ્ધ
૭૫	ધન્ય આરાધક	-

वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्टमें से प्रकाशित हुई पुस्तकोंकी प्रत संख्या

०१	प्रवचनसार (गुजराती)	१५००
०२	प्रवचनसार (हिन्दी)	४२००
०३	पंचास्तिकायसंग्रह (गुजराती)	१०००
०४	पंचास्तिकाय संग्रह (हिन्दी)	२५००
०५	समयसार नाटक (हिन्दी)	३०००
०६	अष्टपाहुड (हिन्दी)	२०००
०७	अनुभव प्रकाश	२१००
०८	परमात्मप्रकाश	४१००
०९	समयसार कलश टीका (हिन्दी)	२०००
१०	आत्मअवलोकन	२०००
११	समाधितंत्र (गुजराती)	२०००
१२	बृहद द्रव्यसंग्रह (हिन्दी)	३०००
१३	ज्ञानामृत (गुजराती)	१०,०००
१४	योगसार	२०००
१५	अध्यात्मसंदेश	२०००
१६	पद्मनंदीपंचविंशती	३०००
१७	समयसार	३१००
१८	समयसार (हिन्दी)	२५००
१९	अध्यात्मिक पत्रो (पूज्य निहालचंद्रजी सोगानी द्वारा लिखित)	३०००
२०	द्रव्यदृष्टि प्रकाश (गुजराती)	१०,०००
२१	द्रव्यदृष्टि प्रकाश (हिन्दी)	६६००
२२	पुरुषार्थसिद्दिउपाय (गुजराती)	६१००
२३	क्रमबद्धपर्याय (गुजराती)	८०००
२४	अध्यात्मपराग (गुजराती)	३०००
२५	धन्य अवतार (गुजराती)	३७००
२६	धन्य अवतार (हिन्दी)	८०००
२७	परमामगसार (गुजराती)	५०००
२८	परमागमसरा (हिन्दी)	४०००

२९	वचनामृत प्रवचन भाग-१-२	५०००
३०	निर्भ्रांत दर्शननी केडीए (गुजराती)	५०००
३१	निर्भ्रांत दर्शनकी पगडंडी (हिन्दी)	७०००
३२	अनुभव प्रकाश (हिन्दी)	२०००
३३	गुरुगुण संभारणा (गुजराती)	३०००
३४	जिण सासणं सव्वं (गुजराती)	२०००
३५	जिण सासणं सव्वं (हिन्दी)	२०००
३६	द्वादश अनुप्रेक्षा (गुजराती)	२०००
३७	दस लक्षण धर्म (गुजराती)	२०००
३८	धन्य आराधना (गुजराती)	१०००
३९	धन्य आराधना (हिन्दी)	१५००
४०	प्रवचन नवनीत भाग-१-४	५८५०
४१	प्रवचन प्रसाद भाग-१-२	२३००
४२	पथ प्रकाश (गुजराती)	२०००
४३	प्रयोजन सिद्धि (गुजराती)	३५००
४४	प्रयोजन सिद्धि (हिन्दी)	२५००
४५	विधि विज्ञान (गुजराती)	२०००
४६	विधि विज्ञान (हिन्दी)	२०००
४७	भगवान आत्मा (गुजरात+हिन्दी)	३५००
४८	सम्यक्ज्ञानदीपिका (गुजराती)	१०००
४९	सम्यक्ज्ञानदीपिका (हिन्दी)	१५००
५०	तत्त्वानुशीलन (गुजराती)	४०००
५१	तत्त्वानुशीलन (हिन्दी)	२०००
५२	बीजुं कांई शोध मा (गुजराती)	४०००
५३	दूसरा कुछ न खोज (हिन्दी)	२०००
५४	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (गुजराती)	२५००
५५	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (हिन्दी)	३५००
५६	अमृत पत्र (गुजराती)	२०००
५७	अमृत पत्र (हिन्दी)	२५००
५८	परिभ्रमणना प्रत्याख्यान (गुजराती)	१५००
५९	परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (हिन्दी)	२५००
६०	आत्मयोग (गुजराती)	१५००
६१	आत्मयोग (हिन्दी)	३०००

६२	अनुभव संजीवनी (गुजराती)	१०००
६३	अनुभव संजीवनी (हिन्दी)	१०००
६४	ज्ञानामृत (हिन्दी)	२५००
६५	वचनामृत रहस्य	१०००
६६	दिशा बोध (हिन्दी-गुजराती)	३५००
६७	कहान रत्न सरिता (हिन्दी-गुजराती)	२५००
६८	प्रवचन सुधा (भाग-१)	१४००
६९	कुटुम्ब प्रतिबंध (हिन्दी-गुजराती)	३५००
७०	सिद्धपद का सर्वश्रेष्ठ उपाय (हिन्दी-गुजराती)	३०००
७१	गुरु गिरा गौरव (हिन्दी-गुजराती)	३५००
७२	आत्मसिद्धि शास्त्र पर प्रवचन	७५०
७३	प्रवचन सुधा (भाग-२)	७५०
७४	समयसार दोहन	७५०
७५	गुरु गुण संभारणा	७५०
७६	सुविधिदर्शन	१०००
७७	समकितनुं बीज	१०००
७८	स्वरूपभावना	१०००
७९	प्रवचन सुधा (भाग-३)	१०००
८०	प्रवचन सुधा (भाग-४)	१०००
८१	कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन भाग-१	१०००
८२	कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन भाग-२	१०००
८३	सुविधि दर्शन (हिन्दी)	१०००
८४	प्रवचन सुधा (भाग-५)	१०००
८५	द्रव्यसंग्रह प्रवचन (भाग-१)	१०००
८६	द्रव्यसंग्रह प्रवचन (भाग-२)	१०००
८७	वचनामृत रहस्य (हिन्दी)	१०००
८८	प्रवचन सुधा (भाग-६)	१०००
८९	राज हृदय (भाग-१)	१५००
९०	राज हृदय (भाग-२)	१५००
९१	अध्यात्मसुधा (भाग-१)	१०००
९२	अध्यात्मसुधा (भाग-२)	१०००
९३	गुरु गिरा गौरव (भाग-१)	१०००

९४	अध्यात्म सुधा (भाग-३)	१०००
९५	प्रवचन सुधा (भाग-७)	७५०
९६	प्रवचन सुधा (भाग-८)	७५०
९७	राज हृदय (भाग-३)	७५०
९८	मुक्तिनो मार्ग (गुजराती(	१०००
९९	प्रवचन नवनीत (भाग-३)	१०००
१००	प्रवचन नवनीत (भाग-४)	१०००
१०१	प्रवचन सुधा (भाग-९)	७५०
१०२	गुरु गिरा गौरव (भाग-२)	७५०
१०३	प्रवचन सुधा (भाग-२) हिन्दी	१०००
१०४	प्रवचन सुधा (भाग-१०) (गुजराती)	७५०
१०५	प्रवचन सुधा (भाग-११) (गुजराती)	७५०
१०६	धन्य आराधक (गुजराती)	७५०

पाठकों की नोंध के लिये